विश्व की कहानी

सुप्रसिद्ध हैली-केतु १३ मई, १९१०, की रात को
यह फ़ोटो भारतवर्ष में लिया गया था ॥ [फ़ोटो—'कोदाईकनाल वेधशाला' के सौजन्य से प्राप्त]
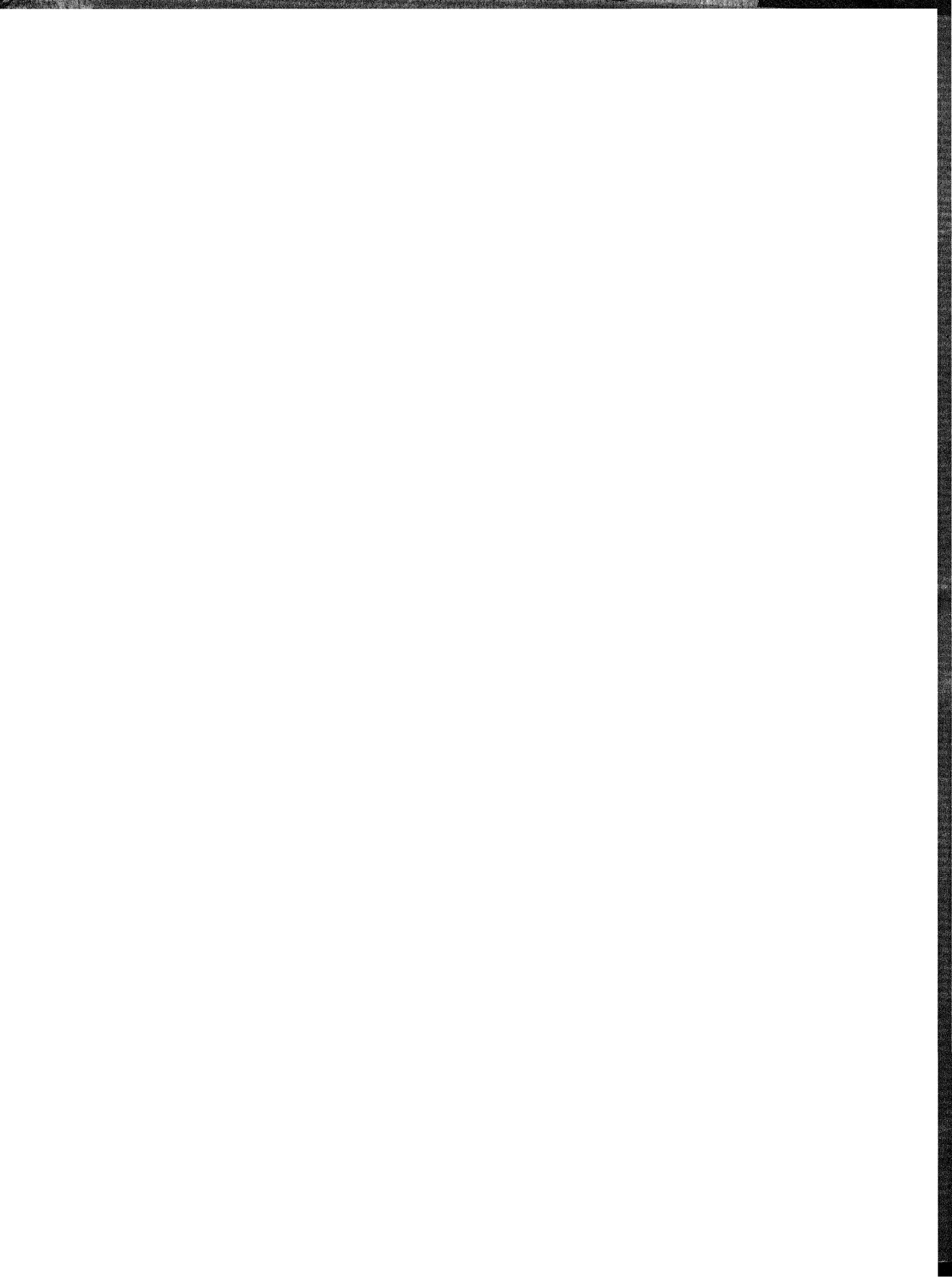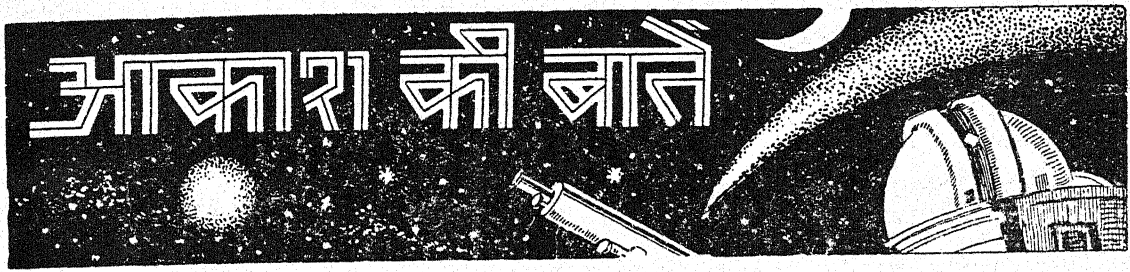
पुच्छल तारे या केतु

बुध से लेकर प्लूटो तक सभी ग्रहों से आप परिचित हो चुके, किन्तु अभी एक प्रकार के विचित्र आकाशीय पिण्ड केतुओं का परिचय पाना बाक़ी है, जो ग्रहों से तो निराले हैं, फिर भी सौर परिवार के ही सदस्य हैं। इस लेख में इन्हीं का मनोरंजक हाल सुनाया जा रहा है।

आकाश में रात्रि के समय कभी-कभी विचित्र पिंड दिखलाई पड़ते हैं, जो प्रकाशमय धुएँ में लिपटे हुए तारे-से जान पड़ते हैं और जिनमें साधारणतः लंबी-सी पूँछ रहती है। इनके स्वरूप के कारण लोग इन्हें पुच्छल तारा, केतु, धूमकेतु, झाड़ू या बढ़नी कहते हैं। ये ग्रहों और तारों से बहुत भिन्न होते हैं। ये केवल कुछ सप्ताह या कुछ महीनों तक ही दिखलाई पड़ते हैं और फिर दूर तथा फीके होकर मिट जाते हैं। अंग्रेज़ी में इन्हें कॉमेट (comet) कहते हैं। यह शब्द coma अर्थात् केश से निकला है।

बड़े केतु वस्तुतः बड़े भड़कीले और सुंदर होते हैं। कुछ तो शुक्र से भी अधिक चमकीले होते हैं और दिन में भी दिखलाई पड़ते हैं। इनकी नाभि इतनी चमकीली हो सकती है कि चकाचौंध लगे। इनका शिर चंद्रमा के बराबर तक हो सकता है और पूँछ इतनी लंबी कि वह क्षितिज से ले लगभग सर के ऊपर तक पहुँच सके। परंतु इतने बड़े केतु कभी-ही-कभी दिखलाई पड़ते हैं। अधिकांश केतु इतने छोटे होते हैं कि वे केवल दूरदर्शक में ही दिखलाई पड़ते हैं।

पुराने ज़माने में प्रायः सभी देश के लोग केतुओं से बहुत डरते थे। उनका विश्वास था कि जब कभी आकाश में केतु दिखलाई पड़ता है तो कोई राजा मरता है, महा-युद्ध होता है, अकाल पड़ता है या महामारी फैलती है। पिछली बार एक बड़ा केतु १६१० में देखा गया था। वस्तुतः उस वर्ष दो बड़े-बड़े केतु दिखलाई पड़े थे। इसके कुछ ही समय बाद सम्राट् सप्तम एडवर्ड की मृत्यु हुई थी। इससे भारतवासियों का विश्वास फिर से दृढ़ हो गया कि केतुओं के दिखलाई पड़ने पर कोई विशेष उपद्रव होता है। वस्तुतः, संस्कृत में केतु का एक नाम 'उत्पात' भी है।

परंतु जब वैज्ञानिक जाँच की जाती है तो कोई भी कारण नहीं दिखलाई पड़ता कि केतुओं से किसी प्रकार के उपद्रव की आशंका हो। बात यह जान पड़ती है कि बड़े केतुओं के अचानक दिखलाई पड़ने के कारण, और उनके तेज तथा विचित्र आकार के कारण लोगों के हृदय में भय का ही संचार होता है। फिर, प्रतिवर्ष कोई-न-कोई दुर्घटना हुआ ही करती है। इसलिए अपनी भावना के अनुसार केतुओं और दुर्घटनाओं में संबंध जोड़ लेने में कोई कठिनाई नहीं पड़ती।

केतुओं का स्वरूप

साधारणतः केतुओं में तीन भाग होते हैं—(१) नाभि, जो तारे के समान छोटी और केतु के अन्य भागों से बहुत अधिक चमकीली होती है, (२) शिर, जो बादल के टुकड़े या नीहारिका के समान होता है और नाभि को घेरे रहता है, और (३) पूँछ, जो झाड़ू के समान और सूर्य से विपरीत दिशा में निकली हुई दिखलाई पड़ती है। परंतु सभी केतुओं में ये तीनों भाग उपस्थित नहीं रहते। कुछ छोटे केतुओं में तो पूँछ ही नहीं रहती। बहुत-से केतुओं में नाभि नहीं रहती और किसी-किसी में एक से अधिक नाभियाँ भी रहती हैं। बहुत-से केतुओं में पहले नाभि नहीं रहती, परंतु सूर्य के पास पहुँचने पर नाभि बन जाती है। शिर सभी केतुओं में होता है।

केतुओं की पूँछ साधारणतः कुछ टेढ़ी होती है। शिर से दूरवाला भाग पीछे की ओर झुका रहता है—पीछे की ओर से अभिप्राय केतु के चलने की दिशा से उल्टी-वाली दिशा है। पूँछ कोई स्थायी वस्तु नहीं जान पड़ती।

जैसे दिया की लौ कोई स्थायी वस्तु नहीं है—उसके अणु प्रति क्षण बदलते रहते हैं, पुराने अणु निकलते जाते हैं और नवीन बनते रहते हैं—ठीक इसी प्रकार केतु की पूँछ भी बराबर बदलती रहती होगी। इस सिद्धांत का प्रमाण इस बात से मिलता है कि कभी-कभी किसी केतु की पूँछ बहकर अलग होती हुई भी देखी गई है और केतु में तुरंत दूसरी पूँछ निकल आई है! अधिकांश केतुओं में पहले पूँछ नहीं रहती। जब केतु सूर्य के समीप आता है तो उसमें पूँछ निकल आती है। जैसे-जैसे केतु सूर्य के समीप आता है उसकी पूँछ बढ़ती जाती है। सूर्य की अर्ध-परिक्रमा करके जब केतु फिर सूर्य से दूर होने लगता है तब पूँछ फिर छोटी होने लगती है और अंत में मिट जाती है। इसी प्रकार केतुओं की चमक भी सूर्य के समीप आने पर बढ़ जाती है। गणना करने से पता चलता है कि ऐसा केवल इसी कारण नहीं होता कि सूर्य के समीप आने पर केतु हमारे भी समीप हो जाता है और इसलिए बड़ा और चमकीला लगता है। सूर्य के समीप आने पर वह वास्तव में बड़ा और अधिक चमकीला हो जाता है। केतुओं का शिर भी इसी प्रकार घटता-बढ़ता रहता है। परंतु कई केतुओं में शिर और पूँछें अनियमित रीति से घटती-बढ़ती हैं।
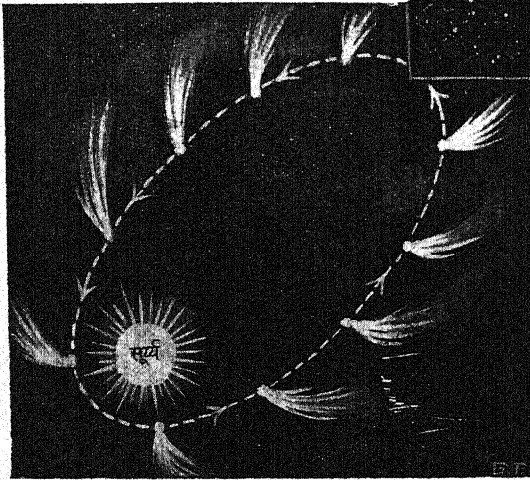
सूर्य की परिक्रमा करते समय केतु की पूँछ की दिशा बदलती रहती है—वह सदैव सूर्य से उल्टी दिशा में रहती है। (दाहिनी ओर ऊपर) केतु के तीन भाग। नाभि शिर में छिपी हुई है।

केतुओं के फोटो में तारे बिंदु-सरीखे न उतरकर कुछ लंबे हो जाते हैं। कारण यह है कि केतु तारों के हिसाब से बराबर चलता रहता है और इसलिए जितने समय में केतु का फ़ोटो उतरता है उतने में तारे कुछ चल लेते हैं।

केतुओं की बनावट

कई बातों का कारण अब भी समझ में नहीं आया है, परंतु इतना निश्चय है कि केतु कोई ठोस वस्तु नहीं है। वस्तुतः यह छोटे-बड़े रोड़ों का समूह है। सूर्य की गरमी और प्रकाश लगने से कुछ गैस और अत्यंत सूक्ष्म धूल इसमें से निकलती है। यही पूँछ के रूप में हमें दिखलाई पड़ती है। यह ज्ञात है कि अत्यंत सूक्ष्म कणों को प्रकाश ढकेलकर दूर करने की चेष्टा करता है। भौतिक विज्ञानवाले इसे अपने प्रयोगों से सिद्ध कर चुके हैं। विश्वास किया जाता है कि प्रकाश के इसी गुण के कारण केतुओं से निकली धूल सूर्य से विपरीत दिशा में बिखर जाती होगी। पूँछ के टेढ़ी होने का सबब यह जान पड़ता है कि शिर, सूर्य से निकट होने के कारण, अधिक वेग से चलता है। पूँछ का छोर अधिक दूर होने के कारण धीरे-धीरे चलता है, ठीक उसी प्रकार जैसे ग्रहों में वे जो सूर्य के निकट होते हैं अधिक शीघ्रगामी होते हैं और वे जो दूर रहते हैं धीरे-धीरे चलते हैं।
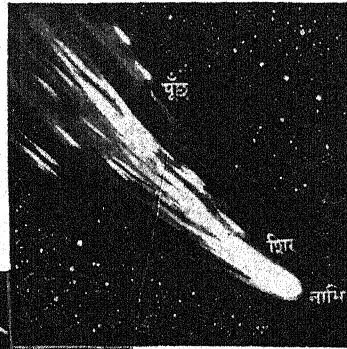
केतु के शिर और पूँछ के ठोस न रहने का प्रमाण कई बातों से मिलता है। प्रथम तो यह कि बहुत-से केतु सूर्य के इतने निकट चले जाते और अपनी परिक्रमा का आधा भाग इतने कम समय में समाप्त कर डालते हैं कि यदि शिर या पूँछ ठोस होते तो इनके भिन्न-भिन्न भागों पर सूर्य की न्यूनाधिक आकर्षण-शक्ति के कारण वे चूर-चूर हो जाते, चाहे उनमें इस्पात की-सी ही मज़बूती क्यों न होती! फिर पूँछों के आर-पार तारे बिना किसी प्रकार मंद हुए ही चमकते देखे जाते हैं, जिससे समझा जाता है कि उनमें की धूलि के कण इतनी दूर-दूर पर हैं कि पूँछ प्रायः पारदर्शक है। इसके अतिरिक्त, पृथ्वी एक-दो बार केतुओं की पूँछ में पड़ गई है और ऐसे अवसरों पर हमको कुछ भी पता नहीं चला है कि हम किसी घने वायुमंडल या धूलि में से होकर निकल रहे हैं। कुछ केतुओं की पूँछों में कहीं-

कहीं गाँठ-सी पड़ जाती है, जिससे अनुमान किया जाता है कि वहाँ किसी कारण धूलि-कण साधारण से कुछ अधिक घने हो गए हैं। देखा जाता है कि ये गाँठें धीरे-धीरे शिर से दूर चली जाती हैं और अंत में पूँछ के छोर तक जाकर विलीन हो जाती हैं! इससे स्पष्ट प्रमाण मिलता है कि दिए की लौ की तरह केतुओं की पूँछ भी केवल कणों और गैसों का समूह है।

शिर भी प्रायः पारदर्शक होते हैं। इनके आरपार भी तारे देखे जा सकते हैं। रश्मिचित्र से पता चलता है कि शिर पूर्णतया गैस के नहीं बने होते। इसलिए अवश्य केतुओं के शिर रोड़ों के समूह ही होते होंगे। इसके समर्थन में उल्लेखनीय बात यह है कि जब कभी किसी केतु का शिर हमारे और सूर्य के बीच में आ जाता है तो वह पूर्णतया अदृश्य हो जाता है। यदि शिर ठोस होता तो अवश्य ऐसे अवसरों पर वह हमें सूर्य-बिंब पर काले धब्बे के समान दिखलाई पड़ता।

जब केतुओं की तौल की गणना की जाती है तब आश्चर्यजनक परिणाम निकलता है। पता चलता है कि उनकी तौल बहुत कम होती है। अनुमान किया गया है कि बड़े-बड़े पुच्छल तारों की तौल पृथ्वी की तौल की अपेक्षा दस लाख में एक भाग भी न होगी। परंतु ठीक-ठीक किसी केतु की तौल क्या है इसका पता लगाना असंभव है, क्योंकि वे इतने हलके होते हैं कि पृथ्वी या किसी अन्य ग्रह को अपने मार्ग से वे कभी भी इतना विचलित नहीं कर पाते हैं कि अंतर नापा जा सके। इतनी कम तौल और इतने अधिक विस्तार से स्पष्ट परिणाम निकलता है कि केतुओं का सापेक्षिक घनत्व बहुत कम होगा। अनुमान किया गया है कि प्रसिद्ध
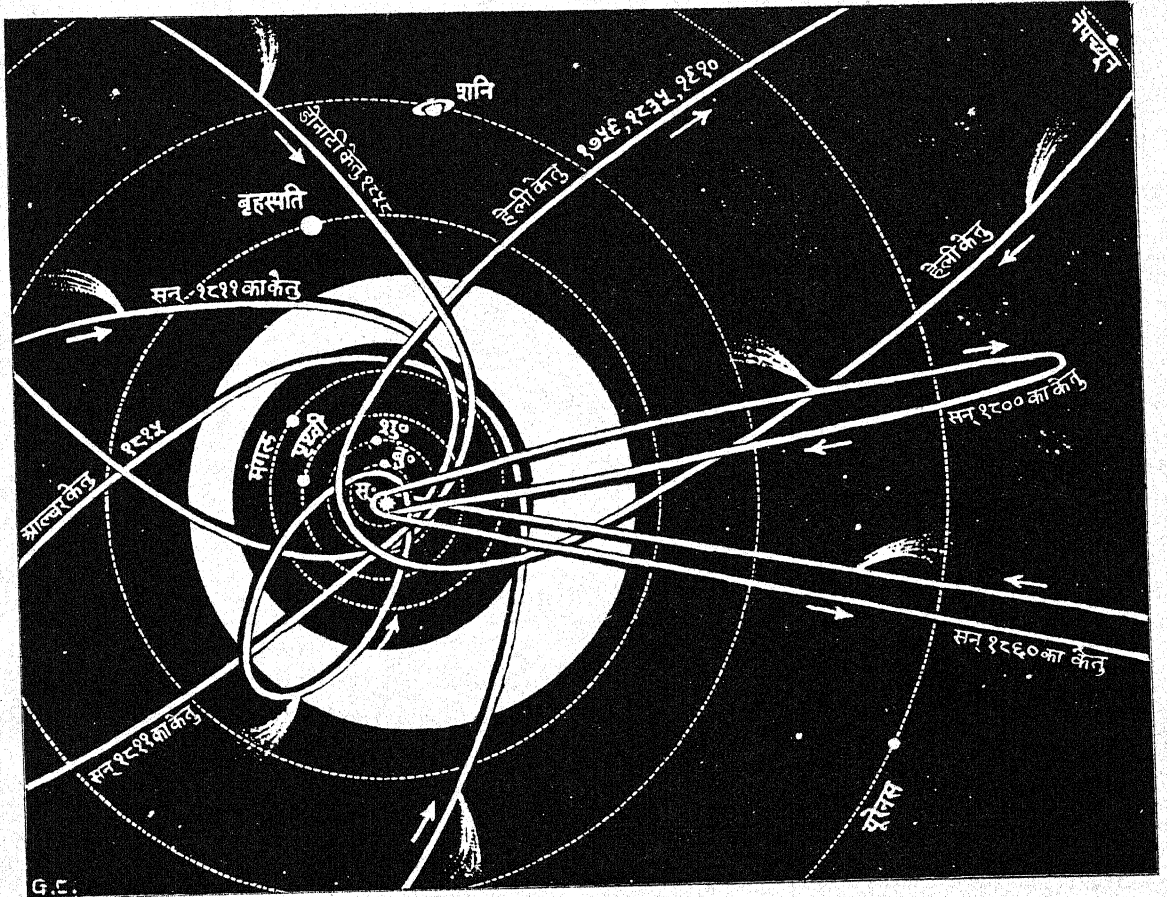
सौर जगत् में केतुओं का स्थान—कुछ मुख्य केतुओं की भ्रमण-कक्षाएँ

जहाँ ग्रह प्रायः गोल दीर्घवृत्त में चलते हैं, वहाँ केतु अत्यंत लंबे दीर्घवृत्त या परवलय में चलते हैं।
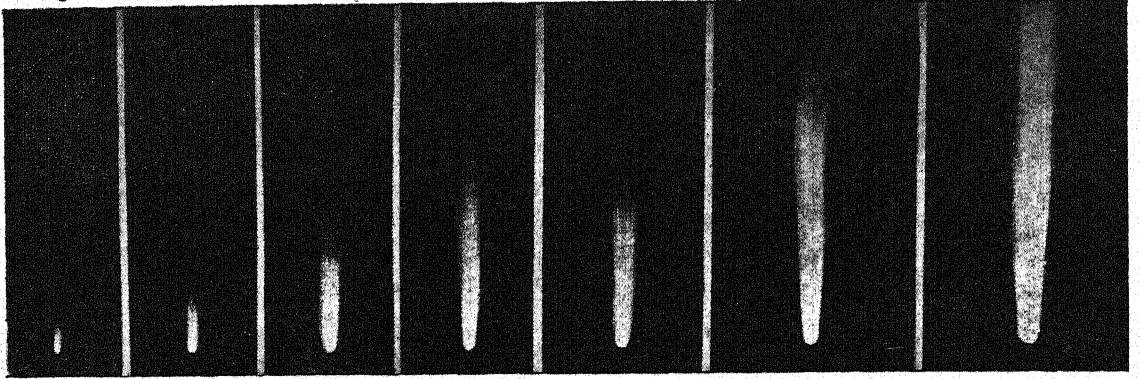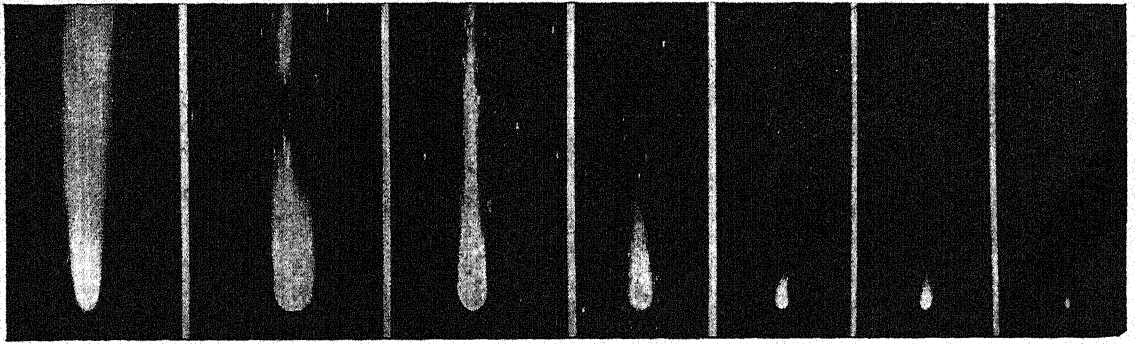
सन् १९१० में हैली-केतु के उदय से अस्त तक की भिन्न-भिन्न तिथियों की अवस्थाओं के फ़ोटो

देखिए, किस प्रकार पहलेपहल यह केतु एक प्रकाश-बिन्दु-सा दिखाई दिया और ज्यों-ज्यों सूर्य की ओर बढ़ता गया उसकी पूँछ लंबी होती गई। अंत में उसी क्रम से वह पुनः छोटा होते-होते अस्त हो गया। यह केतु पुनः १९८६ में वापस पृथ्वी और सूर्य के निकट लौटेगा। (फ़ोटो—'माउण्ट विल्सन वेधशाला')

हैली-केतु, जो हमें बहुत चमकीला दिखलाई पड़ता है, इतना हलका होगा कि इसके २००० घनमील में उतना भी द्रव्य न होगा जितना हमारे वायुमंडल के एक घन-इंच में रहता है! इस संबंध में ध्यान रखने की बात है कि एक घनमील में लगभग २,५०,००,००,००,००,००० घनइंच होते हैं!

केतु रोड़ों के समूह हैं, परंतु ये रोड़े बहुत छोटे-बड़े होते होंगे। जिस मार्ग में केतु चलता है, उसमें इन रोड़ों में से कुछ बिखरे भी पड़े रहते हैं। जब कभी पृथ्वी उनके निकट आ जाती है तो पृथ्वी के आकर्षण के कारण ये रोड़े पृथ्वी की ओर खिंच आते हैं। ये ही हमें उल्का के रूप में दिखलाई पड़ते हैं या उल्का-प्रस्तर के रूप में पृथ्वी पर गिरते हैं। इस प्रकार हम इन रोड़ों में से कुछ को समय-समय पर पा भी जाते हैं। इनसे हम केतुओं के संबंध में बहुत-कुछ ठीक अनुमान कर सकते हैं। केतुओं में ये रोड़े कई मन की तौल के पत्थरों से लेकर सूक्ष्मतम धूल से भी सूक्ष्म होंगे। यह भी पता चलता है कि इनका औसत व्यास आध इंच से कम न होगा। फिर, यदि सब रोड़े इसी औसत नाप के होते तो प्रत्येक घनमील में कुल दस-बारह रोड़ों का ही परता पड़ता। यदि इन रोड़ों का घनत्व पत्थर के घनत्व के समान मान लिया जाय तो हम देख सकते हैं कि केतुओं के शिर के प्रत्येक घनमील में कुल डेढ़-दो तोला माल होता होगा! अनुमान किया गया है कि सारे हैली-केतु में कदाचित् उतना द्रव्य भी न होगा, जितना पनामा-नहर के बीसवें भाग के लिए खोदना पड़ा था, यद्यपि हैली-केतु सबसे बड़े केतुओं में गिना जाता है!

पूँछें केवल सूर्य से आए प्रकाश के कारण ही नहीं
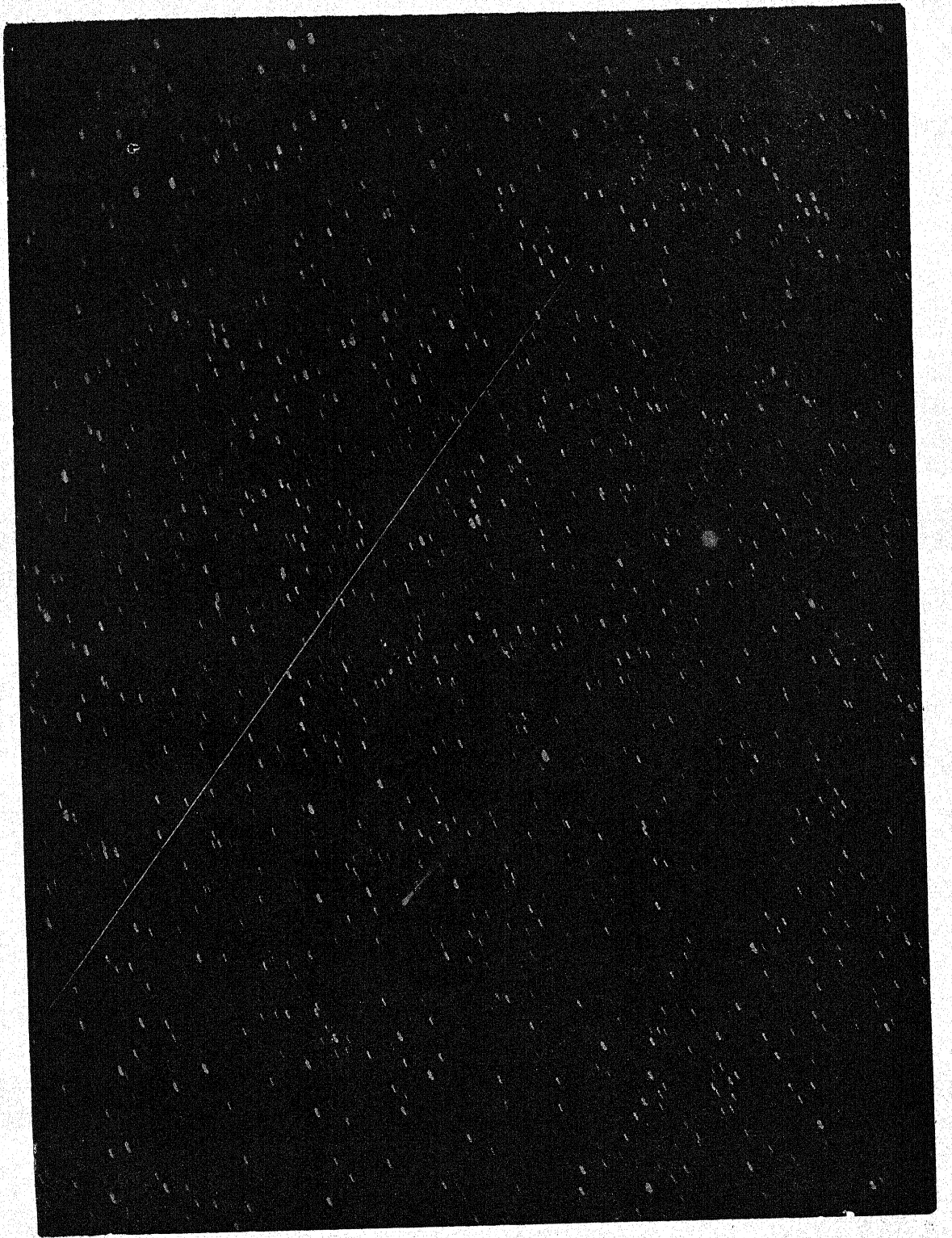
ब्रूक का पुच्छल तारा, नवंबर १३, १८९३

बाईं ओर जो लंबी-सी सीधी सफ़ेद रेखा दिखाई दे रही है वह फ़ोटो लेते समय टूटे हुए एक उल्का के मार्ग की प्रकाश-रेखा है। केतु फ़ोटो के मध्य में नीचे की ओर है। [फ़ोटो—ई० ई० बरनार्ड द्वारा]

चमकतीं, उनमें निजी प्रकाश भी होता है। रश्मिविश्लेषक यंत्र से देखने पर पता चलता है कि उनमें नाइट्रोजन, कार्बन मॉनॉक्साइड, सायानोजन और कई एक हाइड्रो-कार्बन गैस भी हैं।

विस्तार

केतुओं का वास्तविक विस्तार क्या होता होगा? स्पष्ट है कि बड़े केतु वस्तुतः बहुत बड़े होते होंगे। तभी तो वे हमें इतने विस्तृत दिखलाई पड़ते हैं। बड़े केतुओं का शिर ही पृथ्वी की अपेक्षा चौगुने से लेकर बीस गुने व्यास का होता है और यदि शिर की यह बात है तो फिर उनकी पूँछ का क्या कहना! कुछ की पूँछें तो इतनी लंबी होती हैं कि वे सूर्य से पृथ्वी तक पहुँच सकती हैं! नाभियाँ अवश्य छोटी होती हैं। बड़े-बड़े केतुओं की नाभियाँ भी कुल ५०० से लेकर १००० मील के व्यास की होती हैं।

केतुओं के घटने-बढ़ने की बात पहले बतलाई जा चुकी है। एक उदाहरण से यह बात और भी स्पष्ट हो जायगी। हैली-केतु जब १९०९-१० में दिखलाई पड़ा था, तब पहले यह बहुत छोटा था। १९०९ के सितंबर में इसके शिर का व्यास पृथ्वी के व्यास का कुल दुगुना था, परंतु तीन ही महीने में यह फूलकर पृथ्वी से कई गुना बड़ा हो गया। उस समय पृथ्वी के हिसाब से इसका व्यास तीस गुना रहा होगा। अभी यह सूर्य से निकटतम दूरी पर नहीं पहुँच पाया था। जब यह इस दूरी पर पहुँचा तो पहले की अपेक्षा छोटा हो गया और तब इसका व्यास पृथ्वी के व्यास का लगभग पंद्रह गुना था। इसके बाद यह फिर बढ़ने लगा। जून १९१० में यह पहले से भी बड़ा हो गया और इस समय इसका व्यास पृथ्वी का ४० गुना हो गया। इस समय इसका आयतन पृथ्वी की अपेक्षा ६४,००० गुना अधिक था! इसके बाद यह केतु एक बार फिर छोटा होने लगा। १९११ के अप्रैल तक इसका व्यास पृथ्वी का कुल चौगुना ही रह गया।

कुछ केतु एकदम अनियमित रूप से घटते-बढ़ते हैं। वे क्यों ऐसा करते हैं इसका भेद अभी तक नहीं जाना जा सका है।

खोज

बड़े केतु आप-से-आप ही दिखलाई पड़ सकते हैं और पुराने ज़माने में लोग इतने से ही संतोष कर लेते थे। परंतु अब कुछ लोग केतुओं की खोज जान-बूझकर करते हैं। अक्सर इस काम को शौक़ीन लोग करते हैं, क्योंकि वेधशालाओं के बड़े-बड़े ज्योतिषियों को अन्य कामों से फ़ुरसत नहीं मिलती। इसके लिए ऐसे दूरदर्शक का प्रयोग किया जाता है, जिसकी प्रवर्द्धन-शक्ति तो विशेष अधिक नहीं होती, परंतु जिसमें प्रकाश एकत्रित करने की शक्ति विशेष रूप से अधिक होती है। इसलिए मंद प्रकाश के केतु भी आसानी से इन यंत्रों से देखे जा सकते हैं। ये दूरदर्शक छोटे होते हैं और इनमें एक विशेषता यह भी होती है कि उनसे आकाश का अपेक्षाकृत अधिक भाग एक साथ दिखलाई पड़ता है; इससे खोज में समय कम लगता है। १९२५ तक लगभग ९०० पुच्छल तारे देखे गए थे। इनमें से लगभग ४०० तो दूरदर्शक के आविष्कार के पहले देखे गए थे और इसलिए वे चमकीले थे। शेष सोलहवीं शताब्दी के बाद देखे गए थे। १८८० के बाद प्रति वर्ष लगभग पाँच पुच्छल तारों के देखे जाने का पता पड़ा है। सौ वर्ष में वस्तुतः पंद्रह-बीस चमकीले पुच्छल तारे देखे जाते हैं, परंतु इनमें से केवल एक ही दो इतने चमकीले होते हैं कि वे दिन में भी देखे जा सकें। १९१० में दो चमकीले पुच्छल तारे दिखलाई पड़े थे, जिनमें एक इतना चमकीला था कि वह दिन में भी देखा जा सकता था। उस वर्ष का दूसरा पुच्छल तारा प्रसिद्ध हैली-केतु था।

कुछ केतुओं के नाम उनके प्रथम देखनेवालों के नामों पर पड़ गए हैं, जैसे डोनाटी-केतु, एनके-केतु, इत्यादि। छोटे केतुओं का नामकरण वर्ष के आगे अंग्रेज़ी अक्षर ए, बी, सी, डी आदि लिखने से होता है या वर्ष के आगे रोमन गिनती I, II, III आदि लिखने से। अक्षरों से प्रथम देखे जाने का क्रम सूचित किया जाता है, रोमन गिनती से सूर्य से निकटतम दूरी पर पहुँचने का क्रम। जैसे १९१० बी से पता चलता है कि यह केतु पहले-पहल सन् १९१० में देखा गया था और उस वर्ष जितने केतु देखे गए थे उनमें यह दूसरा ग्रह था। १९१० II से पता चलता है कि इस नंबर का केतु सन् १९१० में सूर्य से निकटतम दूरी पर पहुँचा और उन सब केतुओं में जो १९१० में अपनी-अपनी कक्षा में चलने पर सूर्य से निकटतम दूरी पर पहुँचे उनमें यह क्रमानुसार दूसरा ग्रह था।

कक्षा

हम देख चुके हैं कि सभी ग्रह प्रायः गोल दीर्घवृत्त में चलते हैं। परंतु सभी पुच्छल तारे अत्यंत लंबे दीर्घवृत्त में चलते हैं। वस्तुतः, अधिकांश पुच्छल तारे तो इतने लंबे दीर्घवृत्त में चलते हैं कि उनके दूसरे छोर के अस्तित्व का हमको पता ही नहीं है। यदि दीर्घवृत्तों की सूर्य के पास

की चौड़ाई एक रक्खी जाय और उत्तरोत्तर लंबे दीर्घवृत्त बनाये जायँ तो हम अवश्य एक ऐसे दीर्घवृत्त की कल्पना कर सकते हैं जिसका दूसरा छोर अनंत दूरी पर हो, या, दूसरे शब्दों में, जिसका छोर कहीं हो ही नहीं। ऐसी आकृति को परवलय (parabola) कहते हैं। बहुत लंबे दीर्घवृत्त और परवलय में सूर्य के आस-पास इतना कम अंतर रहता है कि यह कहना अक्सर कठिन हो जाता है कि कोई केतु वस्तुतः लंबे दीर्घवृत्त में चल रहा है या परवलय में। परंतु इन दोनों कक्षाओं में एक अत्यंत महत्वपूर्ण अंतर यह है कि दीर्घवृत्त में चलनेवाला केतु लौटकर सूर्य के पास एक बार फिर अवश्य आएगा, परंतु परवलय में चलनेवाला केतु लौट नहीं पाएगा। वह बराबर अनंत की ओर चलता ही चला जायगा। यदि किसी कक्षा का मार्ग परवलय से भी कुछ अधिक खुले मुँह का हो तो वह संभवतः अतिपरवलय (hyperbola) में चलता होगा और ऐसी कक्षा में चलनेवाला केतु भी कभी फिर लौटकर नहीं आएगा।

थोड़े-से केतुओं को छोड़ अधिकांश केतु परवलय में ही चलते जान पड़ते हैं। पुराने ज्योतिषियों का विश्वास था कि सभी केतु परवलय में चलते हैं और इसलिए वे कभी फिर लौटकर नहीं आते। प्रसिद्ध गणितज्ञ न्यूटन (Newton) ने अपने आकर्षण सिद्धान्त के अनुसार यह अनुमान किया कि केतुओं को भी सूर्य के चारों ओर दीर्घवृत्त में घूमना चाहिए। परंतु वह स्वयं कोई दृष्टांत नहीं दे सका। उसके मित्र हैली (Halley) ने पहले-पहल गणना करके बतलाया कि १६८२ का चमकीला केतु वस्तुतः दीर्घवृत्त में चल रहा था और उसके एक बार चक्कर लगाने में लगभग ७६ वर्ष लगता है। कुछ ज्योतिषियों को उस समय यह बात ऐसी विचित्र जान पड़ी कि उन्होंने स्पष्ट कह दिया कि यह हैली की चालाकी है—जान-बूझकर केतु के लौटने का समय ७६ वर्ष बाद बतलाया गया है, जिसमें कोई उसे झूठ न सिद्ध कर सके! परंतु पीछे हैली की बात सच्ची निकली और इस केतु का नाम इसीलिए हैली-केतु रख दिया गया।

मूरहाउज़-केतु (१९०८ III)

लगभग सवा तीन वर्ष में ही चक्कर लगा लेनेवाला भी एक केतु ज्योतिषियों को ज्ञात है, परंतु वह केवल दूरदर्शक से ही दिखलाई पड़ता है।

थोड़े से ही ग्रह निश्चित रूप से ज्ञात दीर्घवृत्त में चलते पाए गए हैं। अधिकांश केतु यदि वस्तुतः दीर्घवृत्त में चलते हैं तो इतने लंबे दीर्घवृत्त में चलते हैं कि वे सैकड़ों या हज़ारों वर्ष में लौटते होंगे। किसी ग्रह के आकर्षण से ऐसे केतुओं का वेग जब कुछ बढ़ जाता होगा तब वे सूर्य की आकर्षण-शक्ति से छूटकर भाग निकलते होंगे। वेग का बढ़ना कोरी कल्पना नहीं है। बृहस्पति के आकर्षण से केतुओं का वेग बढ़ते देखा भी गया है। इसके विपरीत, जब केतु आगे पड़ जाता है और बृहस्पति पीछे, तो बृहस्पति के उल्टे आकर्षण से केतु का वेग घटते भी देखा गया है। ऐसी अवस्था में पहले परवलय में चलते हुए केतु पीछे सूर्य के चारों ओर चक्कर लगाते हुए भी देखे गए हैं। इसी को केतु-बंदीकरण कहते हैं। अनंत दूरी से आया केतु इस रीति से "बंदी" हो जाता है और वह फिर अनंत दूरी तक भाग निकलने में असमर्थ रहता है।

पुच्छल तारों की पक्की पहचान केवल उनकी कक्षाओं से होती है, क्योंकि उनका स्वरूप बदला करता है। परंतु कभी-कभी एक ही कक्षा में एक से अधिक केतु भी चलते पाए गए हैं। समझा जाता है कि ये केतु किसी एक ही केतु के टुकड़े-टुकड़े हो जाने से उत्पन्न हुए होंगे। उदाहरणतः १६६८, १८४३, १८८० और १८८२ में चार पुच्छल तारे दिखलाई पड़े, जिनकी कक्षाएँ एक-सी थीं। इनका स्वरूप भी एक-सा था। और ये सभी ख़ूब चमक-

दार थे। लोगों को संदेह था कि संभवतः एक ही केतु बार-बार आकर हमें चार बार दर्शन दे गया है, परंतु गणना से पता चलता था कि एक बार चक्कर लगाने में इसको ६०० या ८०० वर्ष समय लगना चाहिए था। चौथा केतु तीसरे के कुल दो वर्ष बाद ही आया था, इसी से बहुत से लोगों को ऐसा विश्वास हो रहा था कि संभवतः ये चार एक ही केतु के भिन्न-भिन्न टुकड़े हैं। सौभाग्यवश इसका उन्हें प्रत्यक्ष प्रमाण मिल गया, क्योंकि १८८२ वाला केतु देखते-देखते चार टुकड़ों में विभक्त हो गया जो सब पुरानी ही कक्षा में चलने लगे !

केतुओं की कक्षाओं से यह भी निश्चित है कि केतु सौर-परिवार के ही सदस्य हैं। तारों के हिसाब से सूर्य बड़े वेग से चल रहा है। जितने केतु सूर्य की परिक्रमा कर रहे हैं, वे भी सूर्य के साथ-साथ चल रहे हैं। जो केतु सूर्य की परिक्रमा नहीं कर रहे हैं, वे ऐसी कक्षा में चलते हैं जो दीर्घवृत्त से थोड़ी-सी ही भिन्न रहती है और इस प्रकार वे भी प्रायः सूर्य की ही परिक्रमा करते हुए माने जा सकते हैं। यदि केतु वस्तुतः सौर जगत् के बाहर से आते तो उन सब का, या उनमें से अधिकांश का, वेग अवश्य इतना अधिक होता कि वे निश्चित रूप से अतिपरवलय में चलते हुए दिखलाई पड़ते।

पुच्छल तारों की मृत्यु

पुच्छल तारों की पूँछ बनानेवाला पदार्थ अवश्य ही धीरे-धीरे निकल जाता होगा। किसी केतु के सब उड़नशील पदार्थ के निकल जाने पर क्या होता होगा ? ज्योतिषियों का अनुमान है कि तब केतु अदृश्य हो जाता होगा, उसके रोड़े अवश्य पुराने मार्ग में चलते होंगे, परंतु समय पाकर वे और भी अधिक बिखर जाते होंगे। इस संबंध में बीला-केतु का इतिहास शिक्षाप्रद है। इस केतु को दूरदर्शक से पहले-पहल ऑस्ट्रिया के विलहेल्म फोन बीला ने १८२६ में देखा। गणना करने से पता चला कि यह छोटा-सा केतु छः-सात वर्ष में ही सूर्य का एक चक्कर लगा लेता है। पुराने रजिस्टरों को देखने से पता चला कि यह कई बार पहले भी देखा जा चुका था। १८०५ में यह कोरी आँख से भी देखा गया था। परंतु १८२६ में यह इतने मंद प्रकाश का था कि कोरी आँख से कभी-भी नहीं देखा जा सका। १८३२ में यह फिर दिखलाई पड़ा, परंतु कोई विशेष बात नहीं हुई। १८४५ में जब यह दिखलाई पड़ा तो पहले यह साधारण आकृति का था, परन्तु बीस दिन में ही यह तुंबी के आकार का हो गया—बीच में यह पतला हो गया और दोनों ओर मोटे गोलाकार शिर थे। दस दिन और बीतने पर यह दो भागों में बँट गया और दोनों भाग स्वतंत्र केतु की तरह एक ही कक्षा में चलने लगे। इन दोनों में अलग-अलग पूँछें निकल आईं। उनमें नाभियाँ भी उत्पन्न हो गईं। उनमें से कभी एक अधिक चमकदार हो जाता था, कभी दूसरा। इतना ही नहीं, उन दोनों के बीच कभी-कभी प्रकाश का पुल बँध जाता था !

१८५२ में दोनों फिर लौटे, परंतु अब उनके बीच की दूरी बहुत बढ़ गई थी। थोड़े समय बाद वे सदा के लिए अदृश्य हो गए, यद्यपि उनकी कक्षा अच्छी तरह ज्ञात थी और उनके लिए ख़ूब खोज भी की गई।

परंतु यह न समझना चाहिए कि बीला-केतु की तरह सभी पुच्छल तारों की मृत्यु शीघ्र हो जाती है या हो जायगी। हैली-केतु हज़ारों वर्ष से एकसमान चमकता आ रहा है। एनके-केतु, जो केवल दूरदर्शक में ही दिखलाई पड़ता है, लगभग सवा तीन वर्ष में ही चक्कर लगा लेता है और इसलिए यह कई बार देखा गया है, परंतु इसकी चमक में ज़रा भी कमी होती हुई नहीं देखी गई है।

पुच्छल तारों से मुठभेड़

गत वर्षों में पृथ्वी और पुच्छल तारों में मुठभेड़ हो जाने की पूर्व-सूचना समाचारपत्रों में छप जाने के कारण कई बार जनता में सनसनी फैल चुकी है, परंतु ये सब सूचनाएँ ग़लत थीं। केवल १९१० में पृथ्वी हैली-केतु की पूँछ में पड़ गई थी। हाँ, यह अवश्य संभव है कि भविष्य में कभी किसी पुच्छल तारे के शिर से पृथ्वी की मुठभेड़ हो जाय। इसका परिणाम क्या होगा यह ठीक-ठीक तो नहीं बतलाया जा सकता, परंतु हम अनुमान कर सकते हैं। मुठभेड़ होने पर पुच्छल तारे के रोड़े असंख्य उल्का (टूटते हुए तारे) के रूप में गिरेंगे। इनमें से अधिकांश तो हमारे वायुमंडल में ही भस्म हो जायँगे, परंतु बड़े-बड़े ढोंके अवश्य पृथ्वी तक पहुँच जायँगे। जिधर यह कांड होगा उधर जान और माल की भारी हानि हो सकती है, परंतु इसकी कुछ भी संभावना नहीं जान पड़ती कि आघात की भीषणता से पृथ्वी चकनाचूर हो जाय। केतुओं की पूँछों में विषैली गैसें अवश्य रहती हैं, परंतु उनमें पड़ जाने से हमारा कोई नुक़सान नहीं होता। कारण यही जान पड़ता है कि पूँछ में इन गैसों की मात्रा बहुत कम होती है। शायद हमारे वायुमंडल के ऊपरी भागों में ऑक्सिजन की अधिकता इन विषैली गैसों को नष्ट भी कर

डालती होगी। १८६१ में और फिर १९१० में पृथ्वी निश्चय रूप से बड़े केतुओं की पूँछों में पड़ गई थी, परंतु सिवाय गणना के अन्य किसी भी रीति से हमको इसका पता न चला।

यह भी स्मरण रखना चाहिए कि अंतरिक्ष में इतने केतु भी नहीं हैं कि उनसे पृथ्वी के लड़ जाने का कोई विशेष डर हो। न्यूकॉम्ब का कहना है कि यदि कोई आँख मूँदकर आकाश में गोली चला दे तो उस गोली से किसी उड़ती चिड़िया के मर जाने की संभावना पृथ्वी के केतु से टकराने की संभावना से अधिक है!

कुछ प्रसिद्ध केतु

(१)—**सन् १८४३ का केतु**—फ़रवरी १८४३ में एक पुच्छल तारा सूर्य के पास ही छोटी तलवार के समान दिखलाई पड़ा। यह इतना चमकीला था कि दोपहर में भी सूर्य को ओट में कर देने पर इसकी पूँछ चंद्रमा के व्यास की दस गुनी लंबी दिखलाई पड़ती थी। थोड़े ही दिनों में इसकी पूँछ बहुत बड़ी हो गई और तब यह क्षितिज से लेकर खस्वस्तिक की ओर आधी दूर तक पहुँच जाती थी। यह केतु सूर्य से बहुत समीप होकर—कुल ३६००० मील की दूरी पर से—निकला। परंतु उस समय यह ३६६ मील प्रति सेकंड के वेग से चल रहा था। इसी से यह सूर्य में जा गिरने से बच गया। आधी परिक्रमा में इसे कुल सवा दो घंटे लगे, यद्यपि शेष आधी परिक्रमा में निस्संदेह इसे सैकड़ों वर्ष लगेंगे।

एडमण्ड हैली (१६५६-१७४२)

जिसने सन् १६८२ के चमकीले पुच्छल तारे को देखकर गणना द्वारा भविष्यद्वाणी की थी कि यह केतु ७६ वर्ष बाद पुनः सूर्य के समीप लौटेगा। उसकी यह भविष्यद्वाणी बिलकुल सही निकली। तभी से उस केतु का नाम 'हैली-केतु' पड़ गया।

(२)—**डोनाटी-केतु**—यह बहुत बड़ा और अत्यंत चमकीला केतु है। उन्नीसवीं शताब्दी में यह केतु ११२ दिन तक कोरी आँख से दिखलाई पड़ता रहा। दूरबीन से तो यह ९ महीने तक दिखलाई पड़ा। इसका परिक्रमण-काल लगभग २००० वर्ष है।

(३)—**हैली-केतु**—इसकी कक्षा की गणना का इतिहास पहले लिखा जा चुका है। सन् ८७ ईस्वी पूर्व से लेकर १९१० तक यह केतु २१ बार सूर्य के निकट आया होगा। अधिक चमकीला होने के कारण प्रत्येक बार के संबंध में किसी-न-किसी देश के साहित्य में इसकी चर्चा मिली है। गणना से निकले समयों पर और स्थितियों में इनके दिखलाई पड़ने से और गणना से निकले मार्गों में ही चलने से सिद्ध है कि यही केतु बार-बार देखा गया था। पुराने वर्णनों से निर्विवाद सिद्ध हो जाता है कि प्राचीन काल में भी यह केतु वैसा ही चमकीला था जैसा अब है। प्राचीन चीनी पुस्तकों में इसका ऐसा सूक्ष्म और सच्चा वर्णन मिलता है कि आश्चर्य होता है! आधुनिक काल में १९१० में यह केतु अच्छी तरह देखा गया। २० मई को यह पृथ्वी से निकटतम दूरी पर पहुँचा, परंतु उस समय यह ठीक सूर्य के सामने था। इसके कई दिन पहले और पीछे इसकी पूँछ बहुत लम्बी और चमकीली दिखलाई पड़ती थी। १८ मई को पृथ्वी इसकी पूँछ में पड़ गई थी। इस केतु के भिन्न-भिन्न तिथियों के अनेक फ़ोटो पृष्ठ १७४४ पर दिए गए हैं। एक फ़ोटो विश्व-भारती के अंक १ पृष्ठ ४ पर भी छप चुका है।

(४)—**मूरहाउज़-केतु**—यह १९०८ में अमेरिका की यरकीज़ वेधशाला के एक ज्योतिषी डेनियल मूरहाउज़ द्वारा पहले-पहल देखा गया था। इसीलिए इसका नाम मूरहाउज़-केतु पड़ा। इसका एक फ़ोटो पृष्ठ १७४७ पर दिया गया है।

(५)—**ब्रूक-केतु**—१९११ में यह केतु कोरी आँख से ही आकाश में दिखाई पड़ता रहा। उस समय इसके बड़ी लंबी पूँछ थी। इसका परिक्रमण-काल लगभग ७ वर्ष है। १८८६ में यह केतु बृहस्पति ग्रह की आकर्षण-शक्ति द्वारा प्रभावित होकर अपनी कक्षा या भ्रमण-मार्ग से बहुत विचलित हुआ था। इस केतु का भी एक फ़ोटो इसी लेख के साथ पृष्ठ १७४५ पर दिया गया है। यह फ़ोटो प्रसिद्ध ज्योतिषी बरनार्ड द्वारा लिया गया था।
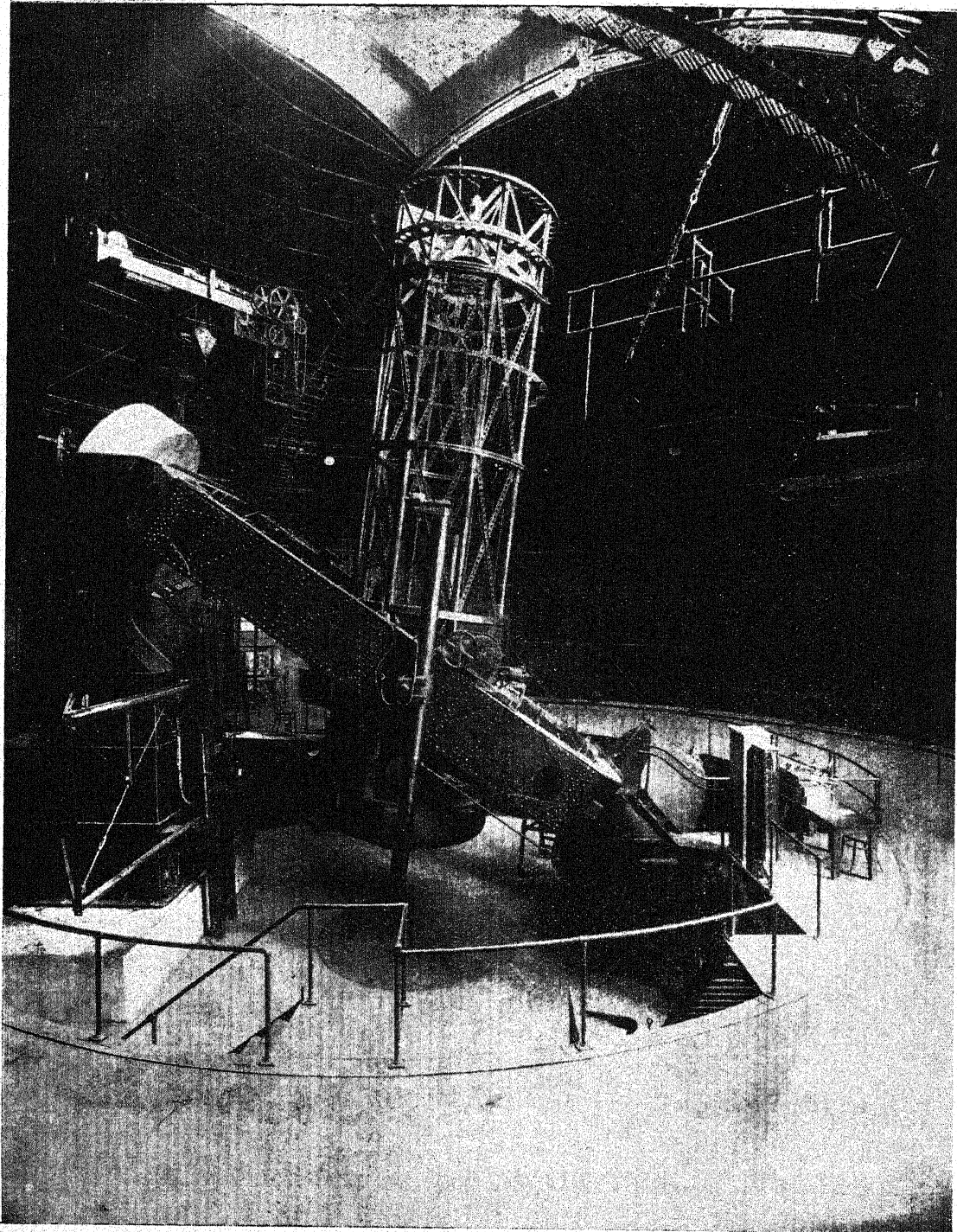
'माउण्ट विल्सन वेधशाला' में प्रस्थापित १०० इंच व्यास के तालवाला महान् दूरदर्शक

जैसा कि आगे के पृष्ठों में बताया गया है, इस प्रकार के गरुड़दृष्टिवाले दूरदर्शक उनमें लेन्स या ताल के ही प्रयोग के कारण दूर की वस्तु को हमारी दृष्टि-परिधि में ला देते हैं। इनकी रचना का सिद्धान्त भी लेख में समझाया गया है। [फ़ोटो—'माउण्ट विल्सन वेधशाला' की कृपा से प्राप्त]
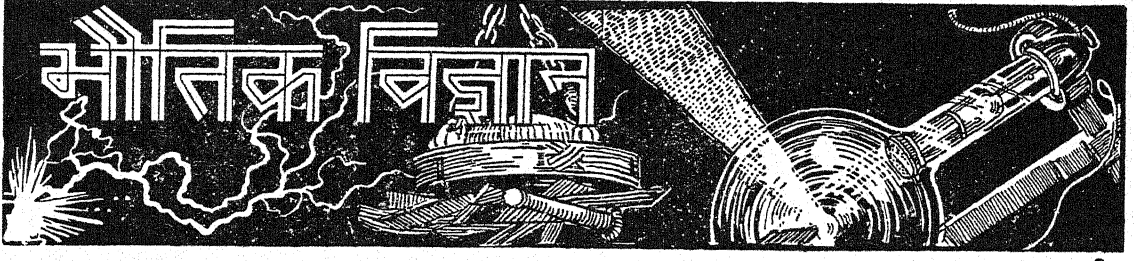
ताल या लेन्स तथा तालयुक्त यंत्र

पिछले लेखों में हमने आलोक-रश्मियों के आवर्त्तन और परावर्त्तन संबंधी नियमों की जानकारी प्राप्त की। इस प्रकरण में ताल और त्रिपार्श्व में से होकर गुजरने पर आलोक-रश्मियों के आवर्त्तन तथा बिम्ब-निर्माण की क्रिया एवं इस सिद्धान्त का विविध यंत्रों के निर्माण में किस प्रकार प्रयोग हुआ है इस बात पर प्रकाश डाला गया है।

हम सब जानते हैं कि उभड़े हुए काँच, जिन्हें हम ताल या लेन्स कहते हैं, नन्हीं-नन्हीं वस्तुओं को हमें परिवर्द्धित आकार में दिखा सकते हैं। दृष्टिशक्ति कम हो जाने पर लोग तालयुक्त चश्मों का भी प्रयोग करते हैं। कैमरा, सूक्ष्मदर्शक यंत्र और दूरदर्शक ये सभी यंत्र हमें ताल या लेन्स की बदौलत ही लभ्य हो सके हैं।

कुछ लेन्स दोनों ओर से उभरे होते हैं—बीच में ये मोटे होते हैं और किनारे की ओर पतले। ऐसे लेन्स को उन्नतोदर लेन्स कहते हैं। किसी-किसी उन्नतोदर लेन्स का एक ओर का धरातल उभरा हुआ अवश्य रहता है, किन्तु दूसरी ओर का धरातल या तो एकदम समतल सपाट होता है या भीतर की ओर ही पिचका होता है। किन्तु हर हालत में उन्नतोदर ताल का मध्य भाग किनारे के हिस्से से मोटाई में अधिक होता है। इसके विपरीत नतोदर ताल में मध्य भाग किनारे के हिस्से की अपेक्षा सदैव पतला रहता है। नतोदर

होगा या थोड़ा-सा बाहर की ओर भी उभरा हो सकता है, किन्तु इतना नहीं कि ताल का मध्य भाग शेष भाग की अपेक्षा मोटा हो जाय।

लेन्स द्वारा प्रकाशरश्मियाँ बिम्ब किस प्रकार बनाती हैं, इसे समझने के लिए हमें पहले प्रिज़्म या त्रिपार्श्व का अध्ययन करना होगा। किसी पारदर्शी माध्यम के ऐसे टुकड़े को हम लें जो तीन समतल पहलुओं से इस तरह घिरा हो कि एक पहलू दूसरे पहलू के साथ जिस कोर पर मिलता हो वहाँ एक कोण बनता हो। इस तरह प्रत्येक त्रिपार्श्व के तीन पहलू और तीन कोर होते हैं। कल्पना कीजिए कि **अ ब स** पर शीशे का त्रिपार्श्व लम्बवत् खड़ा है। आलोक-रश्मि **क ख** पहलू **अ ब** पर शीशे में प्रवेश करती है (दे० अगले पृष्ठ का ऊपरी चित्र)। आवर्त्तन होने के कारण यह रश्मि अपने पूर्व मार्ग से विचलित होकर **ख ग** मार्ग का अनुसरण करती है। पार्श्व **अ स** पर पहुँचकर रश्मि **ख ग** शीशे का माध्यम छोड़कर
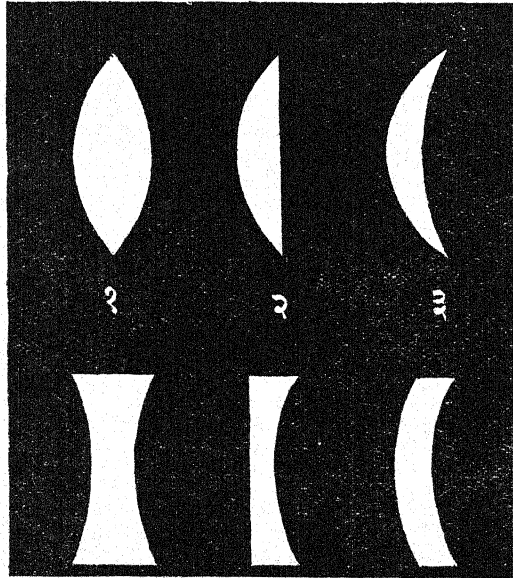
भूल-सुधार

इसी पृष्ठ के सामने दिए गए 'माउण्ट विल्सन वेधशाला' के १०० इंची दूरदर्शक के चित्र के नोट में पहली पंक्ति में '१०० इंच व्यास के तालवाला महान् दूरदर्शक' के बजाय '१०० इंच व्यास के दर्पण से युक्त महान् दूरदर्शक', तथा दूसरी पंक्ति में 'लेन्स या ताल' के बजाय 'दर्पण तथा ताल' पढ़िए।

आलोकरश्मि अपने पूर्व मार्ग से काफ़ी विचलित हो गई है। विचलन की मात्रा तीन बातों पर निर्भर करती है—त्रिपार्श्व का माध्यम, त्रिपार्श्व के सामनेवाले कोर का कोण और किरण का त्रिपार्श्व के धरातल के साथ झुकाव। आवर्त्तन के उपरान्त आलोकरश्मि सदैव आधार की ओर ही विचलित होती है।

प्रत्येक त्रिपार्श्व के लिए आपतित आलोकरश्मि के और त्रिपार्श्व के पहलू के बीच के कोण का एक मान निश्चित रहता है जबकि आवर्त्तन के उपरान्त आलोकरश्मि में अल्पतम विचलन होता है। यदि आपतित रश्मि का झुकाव इस निश्चित मान से कम या अधिक हुआ तो हर दशा में आवर्त्तित रश्मि का विचलन उपर्युक्त विचलन से अधिक ही होगा। एक बात और है। इस अल्पतम विचलन की मात्रा त्रिपार्श्व के कोर के कोण के अनुपात में ही घटती-बढ़ती है। यदि दो त्रिपार्श्व एक ही पदार्थ के बने हों तो जिस त्रिपार्श्व के कोर का कोण बड़ा होगा उसके अन्दर अल्पमत विचलन भी अधिक होगा।

अब दो त्रिपार्श्वों को, जो बिल्कुल एक से हों, लीजिए। दोनों के पेंदे, जैसा बगल के चित्र में दिखाया है, एक-दूसरे से सटा दीजिए। बिन्दु 'क' से दो आलोकरश्मियाँ क ख और क ग इन दोनों त्रिपार्श्वों पर समान झुकाव के साथ आपतित होती हैं, अतः आवर्त्तन के उपरान्त आधार की ओर इन दोनों का झुकाव भी समान होगा—ये दोनों बिन्दु 'घ' पर मिलती हैं। वास्तव में लेन्स को भी हम कई जोड़े त्रिपार्श्वों से बना हुआ समझ सकते हैं—मध्य भाग से ज्यों-ज्यों किनारे की ओर बढ़ेंगे, हमें ऐसे त्रिपार्श्व मिलेंगे, जिनके कोर उत्तरोत्तर चौड़े होते जाते हैं। फल यह होता है कि मध्य भाग के त्रिपार्श्वखण्ड से विचलन कम होता है, किनारेवाले त्रिपार्श्वखण्ड से ज़्यादा, अतः किसी एक बिन्दु से

(ऊपर) प्रथम पंक्ति में, प्रिज़्म या त्रिपार्श्व। क क', च च' और ट ट' इस त्रिपार्श्व के तीन कोर हैं। द्वितीय पंक्ति में, अ ब स पर शीशे का त्रिपार्श्व लम्बवत् खड़ा है। आलोकरश्मि क ख पहलू अ ब पर शीशे में प्रवेश करती है और आवर्त्तित होकर ख ग मार्ग ग्रहण करती है तथा अ स पर पहुँचकर वहीं पुनः आवर्त्तित होकर ग घ के रूप में वायु के माध्यम में प्रवेश करती है। इसमें अल्पतम विचलन ∠ ग य फ के बराबर है (दे० १७५१-५२ पृष्ठ का मैटर)। तीसरी पंक्ति में, दो समान त्रिपार्श्व एक-दूसरे से पेंदे सटाकर रक्खे गए हैं। क ख और क ग रश्मियाँ समान झुकाव से आपतित होकर समान आवर्त्तन के उपरान्त घ पर मिल जाती हैं। (नीचे) उन्नतोदर और नतोदर लेन्सों को कई जोड़े त्रिपार्श्वों से बना हुआ मानकर यह दिखाया गया है कि भिन्न-भिन्न त्रिपार्श्वखण्डों के कम-ज़्यादा विचलन के फलस्वरूप किस प्रकार तमाम रश्मियाँ उन्नतोदर लैंस में से निकलने पर आवर्त्तित होकर पुनः एक ही ठौर क नाभि-बिंदु पर आ मिलती हैं तथा नतोदर में से निकलने पर प्रसारित हो जाती हैं।

चली हुई तमाम रश्मियाँ आवर्त्तन के उपरान्त पुनः एक ही ठौर आ मिलती हैं। मुख्य अक्ष के समानान्तर आनेवाली रश्मियाँ आवर्त्तन के उपरान्त जिस बिन्दु पर मिलती हैं, उसे लेन्स की मुख्य नाभि कहते हैं।

नतोदर लेन्स को भी हम कई जोड़े त्रिपार्श्वों से बना हुआ मान सकते हैं। इस दशा में इन त्रिपार्श्वों के शिर मध्य भाग की ओर रहते हैं और पेंदे बाहर किनारे की ओर। आवर्त्तन के उपरान्त किरणें विचलित होकर बाहर पेंदे की ओर मुड़ जाती हैं। समानान्तर रश्मियों का पुंज ऐसे लेन्स द्वारा आवर्त्तित होने पर बाहर की ओर प्रसारित हो जाता है। दूसरी ओर से देखनेवाले को ऐसा प्रतीत होगा मानों ये रश्मियाँ बिन्दु 'क' से आ रही हैं (देखिए पिछले पृष्ठ का निचला बायाँ चित्र)। क पर उस प्रकाशबिन्दु का काल्पनिक बिम्ब बन जाता है, जहाँ से ये समानान्तर आलोक-रश्मियाँ चलकर लेन्स में प्रविष्ट हुई थीं। क इस लेन्स का नाभिबिन्दु कहलाएगा। इन दोनों लेन्सों में एक ख़ास अन्तर ध्यान देने योग्य है। उन्नतोदर लेन्स में से गुज़रने पर किरण-रश्मियाँ अनिवार्य रूप से संकुचित हो जाती हैं—इसके प्रतिकूल नतोदर लेन्स में आवर्त्तित होने पर रश्मिपुंज पहले की अपेक्षा अधिक प्रसारित हो जाता है (दे० पिछले पृष्ठ का निचला चित्र)। उन्नतोदर लेन्स द्वारा बिम्ब-निर्माण की क्रिया समझने के लिए हमें निम्नलिखित बातें याद रखनी चाहिए—

१. लेन्स की मुख्य कक्षा के समानान्तर आनेवाली तमाम रश्मियाँ आवर्त्तन के उपरान्त दूसरी ओर के नाभि-बिन्दु से अवश्य गुज़रती हैं।

२. नाभि-बिन्दु की दिशा से आनेवाली किरण आवर्त्तन के उपरान्त मुख्य कक्षा के समानान्तर हो जाती है।

३. लेन्स के मध्यभाग से गुज़रनेवाली आलोकरश्मि आने के पूर्व मार्ग से विचलित नहीं होती। अधिक मोटे लेन्स में कुछ थोड़ा-सा विचलन अवश्य होता है, किन्तु यहाँ पर भी विचलन की मात्रा नगण्य-सी ही होती है।

उन्नतोदर लेन्स द्वारा दूर की वस्तु का बिम्ब नाभि-बिन्दु से तनिक आगे हटकर बनता है। यह बिम्ब मूल वस्तु से आकार में छोटा, उल्टा और वास्तविक होगा, अर्थात् धुँधले काँच के पर्दे पर इस बिम्ब को हम प्राप्त कर सकते हैं। वस्तु यदि लेन्स से नाभि-दूरी के दूने फ़ासले पर रक्खी जाय तो इसका बिम्ब लेन्स की दूसरी ओर उतनी ही दूरी पर बनेगा। यह बिम्ब भी वास्तविक और उल्टा होगा, किन्तु आकार में मूल वस्तु के ठीक बराबर होगा। मूल वस्तु को यदि और भी निकट लाएँ तब उसका बिम्ब लेन्स से दूर हटता जायगा, साथ ही बिम्ब का आकार भी बढ़ता जायगा, यद्यपि यह बिम्ब अब भी उल्टा और वास्तविक होगा। वस्तु जब नाभिबिन्दु पर रख दी जायगी तब हमें इसका बिम्ब नहीं मिलेगा, वरन् लेन्स की ओर समानान्तर आलोकरश्मियों का एक पुञ्ज हमें लभ्य होगा। नाभिबिन्दु और लेन्स के बीच में वस्तु रखने पर उसका बिम्ब काल्पनिक ही बन पाता है—इस बिम्ब को हम काँच के पर्दे पर प्राप्त नहीं कर सकते। किन्तु यह बिम्ब एकदम सीधा और आकार
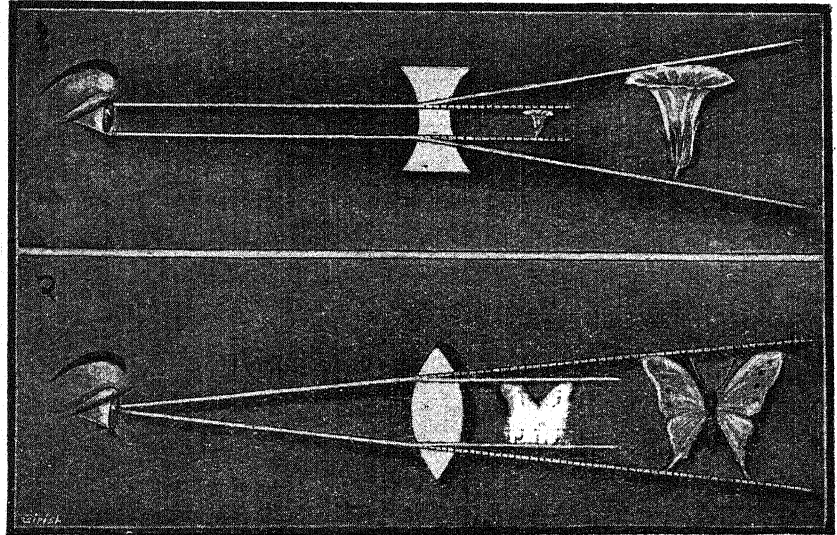
नतोदर और उन्नतोदर ताल द्वारा बिम्ब-निर्माण

१. नतोदर ताल में, वस्तु चाहे जहाँ रक्खी जाय फिर भी हर दशा में बिम्ब काल्पनिक, सीधा और मूल वस्तु से आकार में छोटा बनेगा। २. उन्नतोदर ताल द्वारा निर्मित बिम्ब नाभिदूरी के अनुसार मूल वस्तु से छोटा-बड़ा हो सकता है, किन्तु यह सदैव वास्तविक और उल्टा होगा। (विशेष विवरण के लिए देखिए इसी पृष्ठ का मैटर)।
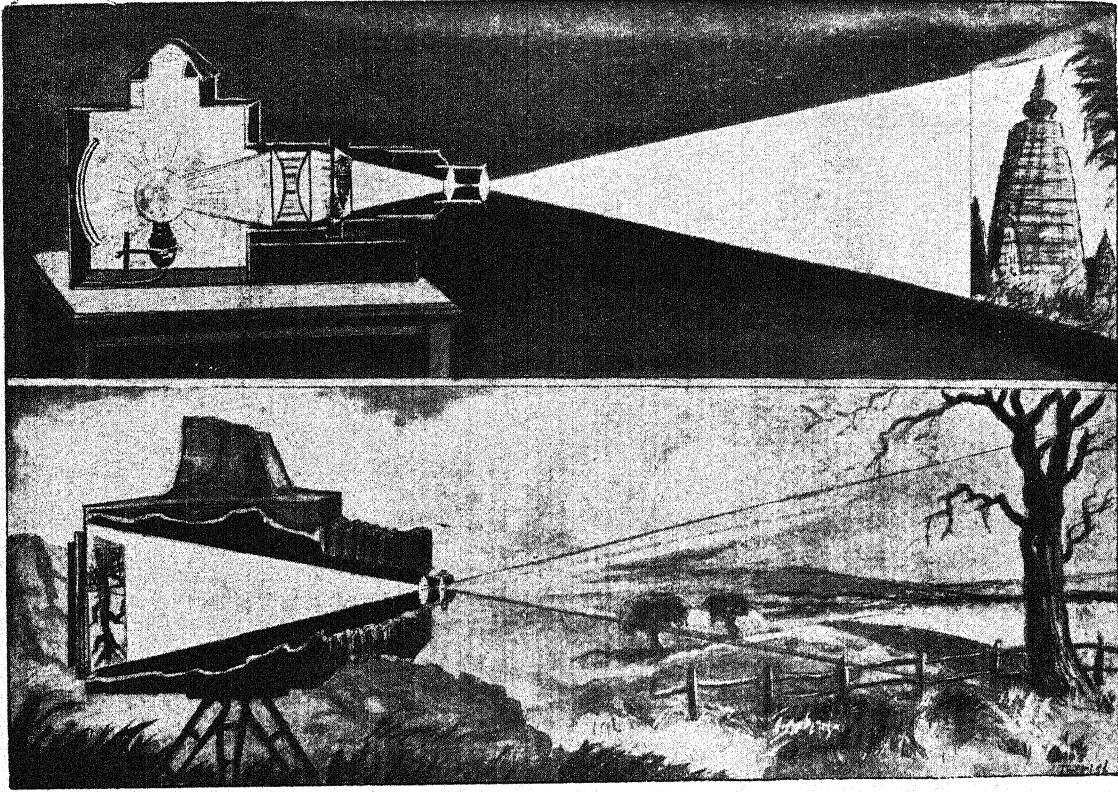
(ऊपर) मैजिक लैन्टर्न का सिद्धान्त; (नीचे) फ़ोटो उतारने के केमरे का सिद्धान्त। दोनों में लेन्स का प्रयोग किया जाता है। (विशेष विवरण के लिए १७५४-५५ पृष्ठ का मैटर पढ़िए)

में मूल वस्तु की अपेक्षा सदैव बड़ा होता है। नतोदर लेन्स में, वस्तु चाहे कहीं पर भी क्यों न रखी जाय, हर दशा में बिम्ब काल्पनिक, सीधा और आकार में मूल वस्तु से छोटा होगा। नतोदर लेन्स द्वारा बने हुए बिम्ब को हम काँच के पर्दे पर कभी भी प्राप्त नहीं कर सकते।

आइए देखें, केमरे में उन्नतोदर लेन्स की सहायता से बाहर की वस्तुओं का फ़ोटो कैसे उतारते हैं। केमरे के 'शटर' को खोलने पर हम लेन्स को आसानी से देख सकते हैं। 'शटर' धातु की काली पत्तियों से बना होता है। शटर खोलने पर ही लेन्स में से होकर आलोकरश्मियाँ केमरे के अन्दर जा सकती हैं, अन्यथा नहीं। केमरे के अन्दर लेन्स के पीछे काँच का एक धुँधला पर्दा लगा रहता है। बाहर की वस्तु का उलटा किन्तु वास्तविक बिम्ब इसी पर्दे पर बनता है। एक अँधेरे कमरे में एक मोमबत्ती केमरे से लगभग ८ फ़ीट की दूरी पर रखिए—काँच के पर्दे पर मोमबत्ती का उलटा बिम्ब आपको नज़र आएगा। मोमबत्ती को लेन्स के निकट ले आइए—अब बिम्ब का आकार तो बढ़ जाएगा, किन्तु बिम्ब पहले जैसा स्पष्ट नहीं उभरेगा। बिम्ब का 'फ़ोकस' ठीक नहीं है। स्पष्ट बिम्ब प्राप्त करने के लिए लेन्स और काँच के पर्दे के बीच की दूरी बढ़ानी होगी। धौंकनीदार केमरे में लेन्स को आगे खिसकाकर इस दूरी को बढ़ा लेते हैं, और इस तरह बिम्ब का फ़ोकस पुनः ठीक हो जाता है। बाक्स-केमरे में धौंकनी नहीं होती, अतः लेन्स आगे-पीछे सरक नहीं सकता। ऐसे केमरे में २२ फ़ीट या इससे अधिक दूरी पर स्थित वस्तुओं का बिम्ब समान रूप से स्पष्ट उभरता है। बाक्स-केमरे से निकट की वस्तुओं का फ़ोटो स्पष्ट नहीं उभरता।

फ़िल्म या प्लेट पर, जिस पर फ़ोटो उतारना होता है, एक रासायनिक मसाला पुता रहता है। यह मसाला आलोकरश्मियों द्वारा प्रभावित होकर काला पड़ जाता है। फ़ोटो लेते समय काँच के पर्दे को केमरे के अन्दर से निकालकर ठीक उसी के स्थान पर फ़िल्म या प्लेट लगा देते हैं। 'सावधान' बोलने पर शटर को एकाध सेकण्ड के

लिए खोलकर पुनः उसे बन्द कर देते हैं। प्लेट पर इस थोड़ी-सी देर के लिए बिम्ब पड़ा था—अतः बिम्ब का प्रतिरूप इस प्लेट के मसाले पर उभर आता है। अन्य रासायनिक द्रवों से धोने पर यह प्रतिरूप ख़ूब उभर आता है। इसे 'निगेटिव फ़ोटो' कहते हैं, क्योंकि मूल वस्तु में जहाँ प्रकाश अधिक था, उस स्थान पर इस फ़ोटो में कालिमा अधिक नज़र आएगी, क्योंकि मसाला उस स्थान पर अधिक प्रभावित हुआ है। सही फ़ोटो उतारने के लिए निगेटिव को मसाले से पुते हुए काग़ज़ से सटाकर दोनों को थोड़ी देर के लिए प्रकाश में रखते हैं। निगेटिव से छन-कर प्रकाश काग़ज़ की सतह तक पहुँचता है। जहाँ निगेटिव ज़्यादा काला था, उसके पीछे कम प्रकाश पहुँच पाता है, और जहाँ निगेटिव हलका था, उसके पीछे अधिक प्रकाश पहुँचता है। इस प्रकार इस काग़ज़ पर मूल वस्तु की ही भाँति फ़ोटो उभर आता है।

हमारी आँखों के अन्दर भी केमरे की भाँति ही बाह्य वस्तुओं का बिम्ब बनता है। निकट और दूर की वस्तुओं को स्पष्ट देख सकने के लिए केमरे के लेन्स को हमें आगे पीछे सरकाना होता है। आँख की पुतलियों को हम आगे-पीछे सरका नहीं सकते हैं, किन्तु इस मुश्किल को हल करने के लिए प्रकृति ने हमें यह शक्ति प्रदान की है कि हम आवश्यकतानुसार अपनी आँख के लेन्स की मुटाई घटा-बढ़ाकर उसकी नाभि-दूरी को इस प्रकार बदल दें कि हर दशा में दृष्टिपटल पर बिम्ब स्पष्ट ही उभरे। हमारी इस शक्ति में जब कभी ह्रास हो जाता है, तब हमें ऐनक के रूप में काँच के लेन्स की सहायता लेनी पड़ती है (देखो विश्व-भारती, भाग १२ पृ० १४७८)।

उन्नतोदर लेन्स साधारणतः कैसे चीज़ों का आकार हमें बढ़ाकर दिखाता है।

मैजिक लैन्टर्न में बिम्ब-निर्माण की क्रिया केमरे की ठीक उलटी होती है। लैन्टर्न का तीव्र प्रकाश दो लैन्सों की सहायता से समानान्तर रश्मिपुञ्ज के रूप में काँच की 'स्लाइड' को भेदता हुआ उपदृश्य लेन्स में से होकर निक-लता है। स्लाइड पर उलटा चित्र अंकित किया रहता है। अतः बाहर सफ़ेद पर्दे पर स्लाइड में अंकित चित्र का सीधा बिम्ब परिवर्द्धित आकार में दिखलाई पड़ता है। उपदृश्य लेन्स को आगे-पीछे खिसकाकर बिम्ब को पर्दे पर फ़ोकस करना होता है।

उन्नतोदर लेन्स की इन विशेष-ताओं का वैज्ञा-निकों ने भरपूर फ़ायदा उठाया है। घड़ी के बारीक पुर्ज़ों का निरीक्षण करते हुए घड़ीसाज़ ने झट एक उन्नतोदर लेन्स अपनी आँख के सामने लगा लिया। घड़ी को अब वह लेन्स के समीप लाता है, ताकि घड़ी के पुर्ज़े लेन्स और उसकी नाभि के दर्मियान आ जायँ। घड़ीसाज़ को पुर्ज़े का अभिवर्द्धित बिम्ब दिखलाई देता है। इस प्रकार घड़ीसाज़ ने एक साधारण सूक्ष्मदर्शक यंत्र अपने लिए बना रखा है। इस ढंग के अकेले एक लेन्सवाले सूक्ष्मदर्शक में नन्हीं वस्तुओं का आकार अधिक-से-अधिक पन्द्रह या बीस गुना परिवर्द्धित हो पाता है।

अत्यन्त सूक्ष्म वस्तुओं को देख सकने के लिए उनके आकार को कई सौ गुना अधिक परिवर्द्धित करना आव-श्यक हो जाता है। अकेले एक लेन्स से इतना अधिक परिवर्द्धन नहीं प्राप्त हो सकता। अतः बढ़िया जाति के सूक्ष्मदर्शक यंत्र में कम से कम दो लेन्स लगे होते हैं—निरीक्षण की जानेवाली वस्तु का परिवर्द्धित किन्तु वास्त-विक बिम्ब पहले एक लेन्स द्वारा बनता है, फिर इस परि-

वर्द्धित बिम्ब को द्वितीय लेन्स द्वारा और भी परिवर्द्धित करते हैं। मानों बिम्ब के आकार का परिवर्द्धन दो क़िस्तों में होता है। दो या दो से अधिक लेन्स-युक्त सूक्ष्म-दर्शक को यौगिक सूक्ष्म-दर्शक के नाम से पुकारते हैं। यौगिक सूक्ष्म-दर्शक में नीचेवाले लेन्स के नाभिबिन्दु की दूरी बहुत ही कम रहती है—लगभग ½ इंच, या इससे भी कम। इसे उपदृश्य लेन्स (Objective) के नाम से पुकारते हैं। ऊपर-वाले उपनेत्र लेन्स के नाभिबिन्दु की दूरी उपदृश्य लेन्स की अपेक्षा अधिक होती है—लगभग एक इंच। निरीक्षण की जानेवाली वस्तु को उपदृश्य लेन्स के निकट रखते हैं, किन्तु फिर भी यह वस्तु उस लेन्स के नाभिबिन्दु से बाहर ही रहती है। अतः सूक्ष्मदर्शक यंत्र की नली के अन्दर इस वस्तु का उलटा, वास्तविक और परिवर्द्धित बिम्ब बनता है। यह बिम्ब उपनेत्र लेन्स और उसके नाभि-बिन्दु के दर्मियान पड़ता है, अतः उपनेत्र लेन्स में से देखने पर हमें काल्पनिक और परिवर्द्धित बिम्ब दिखलाई पड़ता है। अवश्य ही यह बिम्ब मूल वस्तु के लिहाज़ से उलटा बनता है। यदि प्रथम लेन्स से २० गुना अभिवर्द्धन हुआ और दूसरे से १० गुना, तो उस वस्तु के लिहाज़ से अन्तिम बिम्ब का अभिवर्द्धन २०० गुना उतरेगा। उप-नेत्र लेन्स को स्क्रू की सहायता से ऊपर-नीचे सरकाकर ऐसी जगह रखते हैं कि अन्तिम बिम्ब आँख से १२ इंच की दूरी पर बने, क्योंकि स्वस्थ आँखें १२ इंच की दूरी पर रखी हुई वस्तुओं को स्पष्ट और निष्प्रयास देख सकती हैं।

गैलीलियो का दूरदर्शक
(इसमें बिम्ब सीधा दिखाई पड़ता है)

वस्तु
दिखाई पड़नेवाला बिम्ब
ख
क
नतोदर उपनेत्र लैन्स
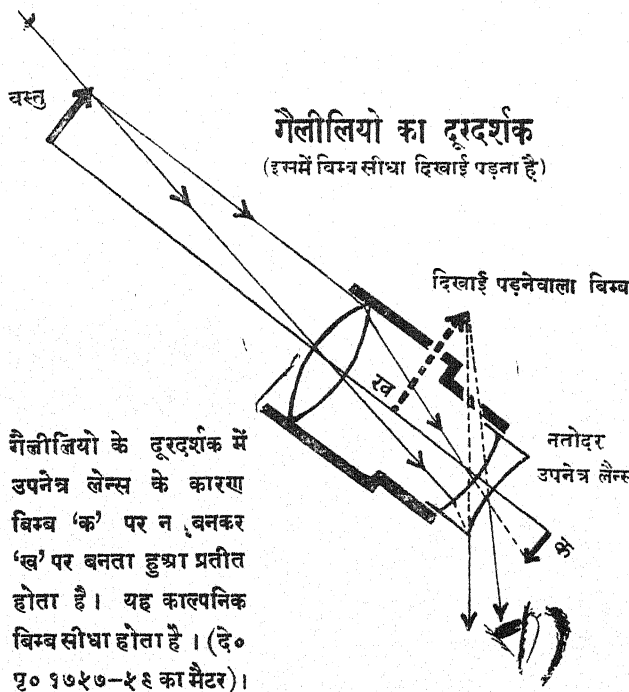
गैलीलियो के दूरदर्शक में उपनेत्र लेन्स के कारण बिम्ब 'क' पर न बनकर 'ख' पर बनता हुआ प्रतीत होता है। यह काल्पनिक बिम्ब सीधा होता है। (दे० पृ० १७५७–५९ का मैटर)।

आजकल कुछ शक्तिशाली सूक्ष्मदर्शक यंत्रों में २० हज़ार गुना अभिवर्द्धन प्राप्त किया जा चुका है! किन्तु इन सूक्ष्मदर्शकों में आलोक-रश्मियों की जगह विद्युत्-कणों की बौछार का प्रयोग करते हैं। लेन्स के स्थान पर शक्तिशाली चुम्बक लगे होते हैं। ये चुम्बक विद्युत्-रश्मियों का केन्द्रीकरण ठीक उसी प्रकार करते हैं, जिस प्रकार आलोकरश्मियों का केन्द्रीकरण काँच के लेन्स द्वारा होता है।

दूर की वस्तुएँ हमें स्पष्ट इसलिए नहीं दिखलाई देतीं कि वे हमसे बहुत दूर हैं। इन वस्तुओं का आकार सच-मुच छोटा नहीं होता, किन्तु दूरी के कारण ये हमें छोटी प्रतीत होती हैं। सूर्य्य कितना विशाल है, किन्तु वह हमसे इतनी अधिक दूरी पर स्थित है कि हमें एक नन्हाँ-सा गोला दिखलाई पड़ता है। ऐसी दूरस्थ वस्तुओं को स्पष्ट देख सकने के लिए केवल इतना आवश्यक है कि या तो हम स्वयं इनके निकट चले जायँ, या किसी विधि से इन वस्तुओं के बिम्ब अपने निकट ले आएँ। दूरदर्शक यंत्र (दूरबीन) में दूर की वस्तुएँ स्पष्ट इस कारण दीखती हैं कि उसकी सहायता से दूर की वस्तुओं का बिम्ब आँख के सामने एकदम निकट बन जाता है। वास्तविकता तो यह है कि दूरबीन के अन्दर बना हुआ बिम्ब आकार के लिहाज़ से मूल वस्तु से छोटा

ही होता है, किन्तु निकट होने के कारण मूल वस्तु से बड़ा जँचता है। अपनी आँख के सामने हथेली रखकर हम सूर्य्य को ढक लेते हैं—निकट होने के कारण हथेली का आकार सूर्य्य के आकार से बड़ा प्रतीत होता है।

हर क़िस्म के बड़े-छोटे सूक्ष्मदर्शक यंत्र एक ही सिद्धान्त पर बने होते है—हाँ, किसी के उपदृश्य लेन्स में बीसियों लेन्स लगे रहते हैं, किसी में एक ही दो। किन्तु दूरदर्शक यंत्र भिन्न-भिन्न प्रकार के होते हैं—किसी में दूर की वस्तुएँ आपको उलटी दिखलाई देंगी, किसी में सीधी।

आकाशीय दूरदर्शक एक लिहाज़ से सूक्ष्मदर्शक यंत्र से मिलता-जुलता है। इस श्रेणी के साधारण दूरदर्शक में भी सूक्ष्मदर्शक की ही भाँति दो उन्नतोदर लेन्सों का प्रयोग किया जाता है। हाँ, इतना अन्तर अवश्य है—और यह एक भारी अन्तर है, कि दूर-दर्शक के उपदृश्य लेन्स की नाभि-दूरी लम्बी होती है, और उपनेत्र लेन्स की नाभिदूरी कम; सूक्ष्मदर्शक में इसका ठीक उलटा होता है।

उपदृश्य लेन्स से गुज़रने पर उस दूरस्थ वस्तु से आई हुई आलोकरश्मियाँ
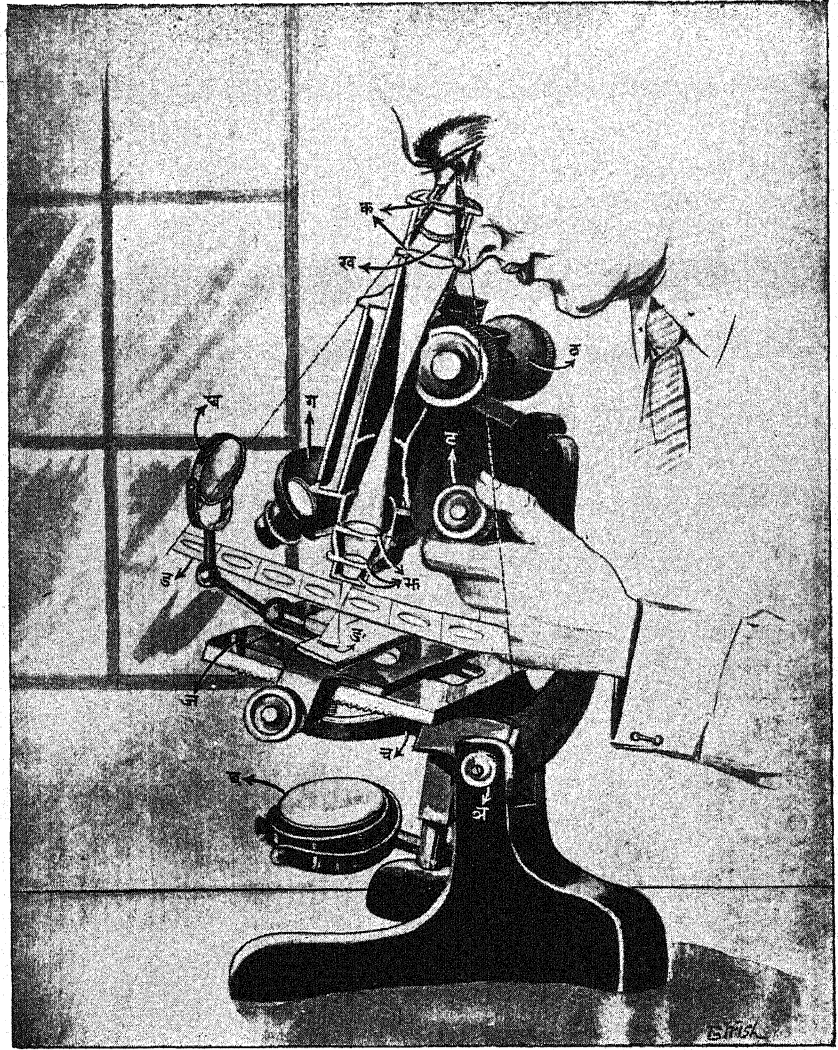
यौगिक सूक्ष्मदर्शक यंत्र की रचना

नली के भीतर की रचना समझाने के लिए उसे बग़ल से काटकर चित्र में भीतरी दृश्य दिखा दिया गया है। क—उपनेत्र लेन्स; ख—उपदृश्य लेन्सों द्वारा परिवर्द्धित बिम्ब; ग—विभिन्न व्यासों के फुटकर उपदृश्य लेन्सों को रखने के लिए एक उपाङ्ग; घ—वस्तु को ऊपर से प्रकाशित करनेवाला दर्पण; ङ—काँच की तख़्ती पर रक्खी हुई वस्तु जिसका परिवर्द्धित बिम्ब प्राप्त करना है; च—कन्डेन्सर; छ—वस्तु पर नीचे से प्रकाश डालने-वाला दर्पण; ज—स्टेज, अर्थात् वह आधार जिस पर वस्तु रक्खी जाती है; झ—उप-दृश्य लेन्स; ञ—यंत्र की आड़ी धुरी; ट और ठ—फोकस मिलाने के लिए स्क्रू; ड—लेन्सों द्वारा परिवर्द्धित होने पर दर्शक को दिखाई देनेवाला बिम्ब। निरीक्षण की जानेवाली वस्तु को उपदृश्य लेन्स के निकट रखते हैं, किन्तु फिर भी यह वस्तु उस लेन्स के नाभिविन्दु से बाहर ही रहती है। अतः सूक्ष्मदर्शक यंत्र की नली के अन्दर इस वस्तु का उलटा, वास्तविक और परिवर्द्धित बिम्ब बनता है।

केन्द्रित होकर लेन्स के नाभिबिन्दु से थोड़ा ही आगे बिम्ब बनाती है। यह बिम्ब आकार में मूल वस्तु की अपेक्षा छोटा होता है—तथा यह बिम्ब वास्तविक और उलटा बनता है। उपनेत्र लेन्स को इस बिम्ब के आगे इस तरह रखते हैं कि लेन्स और उसकी नाभि के बीच में यह बिम्ब आ जाय। अब उपनेत्र लेन्स द्वारा इस बिम्ब का दूसरा बिम्ब बनता है—यह बिम्ब काल्पनिक और परिवर्द्धित होता है, किन्तु मूल वस्तु के लिहाज़ से यह बिम्ब उलटा ही रहा। परिवर्द्धित होने पर भी इस द्वितीय बिम्ब का आकार मूल वस्तु के आकार से छोटा ही रहता है। अवश्य यह बिम्ब हमारी आँखों के निकट बनता है। अतएव इसका व्यक्त आकार बड़ा दीखता है।

आकाशीय दूरबीन में सूर्य्य, चन्द्रमा, बृहस्पति तथा अन्य ग्रह-नक्षत्रों के बिम्ब उलटे बनते हैं—किन्तु इसमें कोई हर्ज़ नहीं। इन आकाशपिण्डों के धरातल का निरीक्षण उलटे बिम्ब में भी आसानी के साथ किया जा सकता है। पृष्ठ १७५६ पर दिए गए दूरदर्शकों के सिद्धान्त को समझानेवाले चित्र में आलोकरश्मियों का पूरा मार्ग दिखलाने के लिए हमने मूल वस्तु को लेन्स से उसकी नाभिदूरी के दूने फ़ासले से थोड़ा ही आगे रक्खा है। वास्तव में दूरबीन से देखी जानेवाली वस्तुएँ इतने अधिक फ़ासले पर स्थित रहती हैं कि वहाँ से चलनेवाली आलोकरश्मियाँ दूरदर्शक तक पहुँचते-पहुँचते एक दूसरे के समानान्तर हो जाती हैं। ऐसी दशा में प्रथम बिम्ब उपदृश्य लेन्स के नाभिबिन्दु पर ही बनता है। द्वितीय बिम्ब बनाने के लिए उपनेत्र लेन्स को इस बिम्ब से उसकी नाभिदूरी के बराबर फ़ासले पर रखते हैं। इस प्रकार दूरदर्शक की लम्बाई कम से कम दोनों लेन्स की नाभिदूरी के योग के बराबर होती है। भौतिक विज्ञान की सहायता से यह साबित किया जा सकता है कि दूरदर्शक की परिवर्द्धन-शक्ति उसके उपदृश्य लेन्स और उपनेत्र लेन्स की नाभिदूरी के अनुपात पर निर्भर है। अतएव शक्तिशाली दूरदर्शकों में उपनेत्र लेन्स की नाभिदूरी काफ़ी बड़ी रखनी पड़ती है। इस कारण ऐसे दूरदर्शक यंत्र की लम्बाई पहले कभी-कभी तो ६०० फ़ीट तक पहुँचती थी!

प्रायः लोगों को यह देखकर आश्चर्य्य होता है कि साधारण दूरदर्शक भी हज़ारों-सैकड़ों ऐसे नक्षत्रों को हमारे दृष्टिक्षेत्र में ले आता है, जिन्हें अकेली अपनी आँखों से हम कभी भी नहीं देख सकते। वास्तव में बात यह है कि हमारी आँख की पुतली का व्यास १/३ इंच के लगभग होता है जबकि एक मामूली दूरबीन का उपदृश्य लेन्स कम-से-कम १ इंच चौड़ा होगा। अर्थात् हमारी आँख की पुतली के धरातल की अपेक्षा दूरदर्शक के उपदृश्य लेन्स का धरातल ९ गुना बड़ा है, अतएव यह दूरदर्शक हमारी आँखों में पहले की अपेक्षा ९ गुना अधिक प्रकाश पहुँचाएगा। मान लीजिए आकाश में दो तारे हैं, जिनमें से एक से हमारी आँखों में केवल इतना प्रकाश पहुँच पा रहा है कि उसे हम मुश्किल से देख भर पाते हैं। यदि इसका प्रकाश रत्ती भर भी और कम हुआ तो फिर हमारी आँखें इसे देखने में समर्थ न हो सकेंगी। दूसरा नक्षत्र पहले की तुलना में केवल १/९ प्रकाश देता है। अतएव हमारी आँखों को यह बिल्कुल ही नहीं दिखलाई देता। दूरदर्शक में से देखने पर यह दूसरा नक्षत्र भी हमें फ़ौरन् दृष्टिगोचर हो जायगा।

स्वयं अपने घर पर आप साधारण दूरदर्शक तैयार कर सकते हैं। किसी पुराने चश्मे में से उन्नतोदर लेन्स निकाल लीजिए। इसकी नाभिदूरी लगभग १२ इंच होनी चाहिए। कमरे के दूसरे कोने पर दीवाल पर एक तीर काले रंग से बना लीजिए। इस लेन्स द्वारा बने हुए उलटे बिम्ब को धुँधले काँच के पर्दे पर फोकस कीजिए। अब पीछे हटकर इस बिम्ब को एक छोटे उन्नतोदर लेन्स में से देखिए। लेन्स को आगे-पीछे सरकाकर ऐसी जगह रखिए कि काँच के पर्दे पर बनी हुई तीर की तसवीर का स्पष्ट और परिवर्द्धित बिम्ब लेन्स में से देखने पर दिखलाई देने लगे। अवश्य इस लेन्स की नाभिदूरी २ इंच से अधिक नहीं होनी चाहिए। किसी पुराने केमरे में से ऐसा लेन्स आप निकाल सकते हैं। दोनों लेन्स की दूरी सध जाने पर काँच का पर्दा हटा लीजिए। आपका दूरदर्शक यंत्र तैयार हो गया।

इस श्रेणी के दूरदर्शक से धरती पर की वस्तुओं को देखने में बड़ी असुविधा होती है, क्योंकि इसके अन्दर चीज़ें उलटी नज़र आती हैं। धरती की वस्तुओं के निरीक्षण के लिए ऐसे दूरदर्शक की आवश्यकता होती है जिसमें चीज़ें बिल्कुल सीधी नज़र आएँ। इस ढंग के दूरदर्शक के आविष्कार का श्रेय सुप्रसिद्ध इटैलियन वैज्ञानिक गैलीलियो को प्राप्त है।

१६०९ ई० में गैलीलियो ने जब सुना कि हालैण्ड-निवासी दो व्यक्तियों ने चश्मे के लेन्सों की सहायता से एक ऐसा यंत्र तैयार किया है, जिसके अन्दर से देखने पर दूर की वस्तुएँ निकट दिखलाई पड़ती हैं, तो वह

इसकी ओर विशेष रूप से आकर्षित हुआ। उसने कई बढ़िया दूरदर्शक यंत्र स्वयं तैयार किए। अपने दूरदर्शक की सहायता से बृहस्पति का निरीक्षण करके उसने पहली बार पता लगाया कि बृहस्पति के चार उपग्रह उसकी परिक्रमा लगाते हैं—इस प्रकार उसने कापर्निकस के मत की पुष्टि की कि चन्द्रमा भी पृथ्वी की परिक्रमा लगाता है और पृथ्वी तथा अन्य ग्रह सूर्य की परिक्रमा लगाते हैं।

गैलीलियो ने अपने दूरदर्शक में जिस उपदृश्य लेन्स का प्रयोग किया, वह उन्नतोदर ही था, किन्तु उपनेत्र लेन्स उन्नतोदर के बजाय नतोदर श्रेणी का लगाया। आकाशीय दूरदर्शक में उपनेत्र लेन्स को प्रथम बिम्ब के आगे रखते हैं। किन्तु गैलीलियो ने अपने दूरदर्शक में नतोदर लेन्स को उपदृश्य लेन्स और प्रथम बिम्ब के बीच में रक्खा। ऐसा करने से उपदृश्य लेन्स से आई हुई रश्मियों को इतना मौक़ा नहीं मिलता कि वे एक दूसरे को काटकर प्रथम बिम्ब 'क' का निर्माण कर सकें। इसके पहले वे नतोदर लेन्स द्वारा आवर्त्तित होकर एक बार फिर उलट जाती हैं और हमें मूल वस्तु का परिवर्द्धित किन्तु सीधा बिम्ब नज़र आता है (दे० पृ० १७५६ का चित्र)। युद्धक्षेत्र तथा थियेटरों में काम में आनेवाले दूरदर्शक गैलीलियो के सिद्धान्त पर ही बनते हैं।

हम ऊपर कह आए हैं कि शक्तिशाली दूरदर्शकों का लम्बा होना आवश्यक है। किन्तु युद्धक्षेत्र अथवा थियेटर में लम्बी दूरबीनों का इस्तेमाल करना असुविधाजनक होता है। समकोण त्रिपार्श्व की मदद से दूरदर्शक नली के अन्दर ही आलोकरश्मियों को ऊपर से नीचे और नीचे से ऊपर कई बार परावर्त्तित कर लेते हैं। ऐसा करने से दूरदर्शक की लम्बाई तो कम हो जाती है, किन्तु उसकी परिवर्द्धन-शक्ति पहले-जैसी बनी रहती है।

दूरदर्शक के उपदृश्य लेन्स का व्यास जितना बड़ा होगा, उतना ही अधिक प्रकाश दूरदर्शक के अन्दर पहुँच सकेगा, अतः बिम्ब भी उतना ही अधिक स्पष्ट दीखेगा। किन्तु बड़े आकार के लेन्स ढालने में अनेक कठिनाइयाँ आती हैं। ४० इंच चौड़े मुँहवाले लेन्स ढाले जा चुके थे, किन्तु जब इससे भी बड़े आकार के लेन्स ढालने का प्रयत्न किया गया तो लेन्स में अनेक दोष आने लगे। कभी लेन्स चटख़ जाता, कभी बीच से टेढ़ा पड़ जाता, तो कभी उसके भीतर हवा के बबूले आ जाते। इन परेशानियों से बचने के उद्योग में दर्पणयुक्त दूरदर्शकों का विकास हुआ। उपदृश्य लेन्स के स्थान पर सबसे पहले न्यूटन ने नतोदर दर्पण का प्रयोग किया। न्यूटन के दूरदर्शक में दूरस्थ वस्तु से आई हुई आलोकरश्मियाँ नतोदर दर्पण से परावर्त्तित होकर उसके नाभिबिन्दु पर मिलने के पहले ही एक समकोण काँच के त्रिपार्श्व द्वारा दूरदर्शक की नली की दीवाल की ओर मोड़ दी जाती हैं—इन रश्मियों द्वारा बने हुए वास्तविक बिम्ब को उपनेत्र लेन्स की मदद से देखने पर हमें परिवर्द्धित बिम्ब दिखलाई पड़ता है। आधुनिक युग के सभी शक्तिशाली दूरदर्शक यंत्रों में नतोदर दर्पणों का प्रयोग होता है। माउण्ट विल्सन वेधशाला, अमेरिका, की दूरबीन के दर्पण का मुँह १०० इंच चौड़ा है। अनन्त अन्तरिक्ष में और दूर तक प्रवेश करने के निमित्त अमेरिका के वैज्ञानिक आजकल एक ऐसे दूरदर्शक यंत्र की तैयारी में जुटे हुए हैं, जिसका मुँह २०० इंच चौड़ा होगा। इस दूरदर्शक के दर्पण की ढलाई का काम सकुशल पूरा हो चुका है। यह दर्पण काँच के एक विशाल शिलाखण्ड से तैयार किया गया है, जिसका वज़न २५ टन से ऊपर है। यह दूरदर्शक १० हज़ार मील पर रक्खी हुई मोमबत्ती के प्रकाश से भी प्रभावित हो सकेगा!

पानी के अन्दर से सबमैरीन-संचालक पेरिस्कोप की सहायता से बाहर की वस्तुओं को भली भाँति देख सकता है। वास्तव में पेरिस्कोप दो दूरदर्शक यंत्रों के संयोग से बना है। पेरिस्कोप धातु की एक मज़बूत नली के अन्दर बन्द रहता है। इस नली में पानी प्रवेश नहीं कर सकता। पेरिस्कोप के सिरे पर एक समकोण त्रिपार्श्व इस प्रकार फ़िट किया हुआ है कि आलोकरश्मियाँ परावर्त्तित होकर एकदम लम्बवत् नीचे को पेरिस्कोप की नली में प्रवेश करती हैं—नीचे मुड़ने पर पहले वे प्रथम दूरदर्शक से गुज़रती हैं। इस दूरदर्शक के अन्दर दो अत्यन्त बारीक स्केल काँच के पर्दे पर खुदे हुए लगे होते हैं। इस प्रकार बाह्य दृश्य के बिम्ब पर इस स्केल का बिम्ब भी आरूढ़ करा दिया जाता है। प्रथम दूरदर्शक से बाहर निकलने पर आलोकरश्मियाँ एक दूसरे के समानान्तर होती हैं। अब ये पुनः द्वितीय दूरदर्शक में प्रवेश करती है। किन्तु इस दूरदर्शक में उपनेत्र लेन्स तक पहुँचने के पूर्व ये आलोकरश्मियाँ एक समकोण त्रिपार्श्व द्वारा बग़ल में मोड़ दी जाती हैं। सबमैरीन-निर्देशक इसी उपनेत्र लेन्स पर आँख लगाये बाह्य संसार की गति-विधि का अन्दाज़ लगाता रहता है। बिम्ब में स्केल भी दिखलाई पड़ता है, अतः उपनेत्र लेन्स में दिखलाई देनेवाली वस्तुओं के आकार का भी पता लग जाता है।
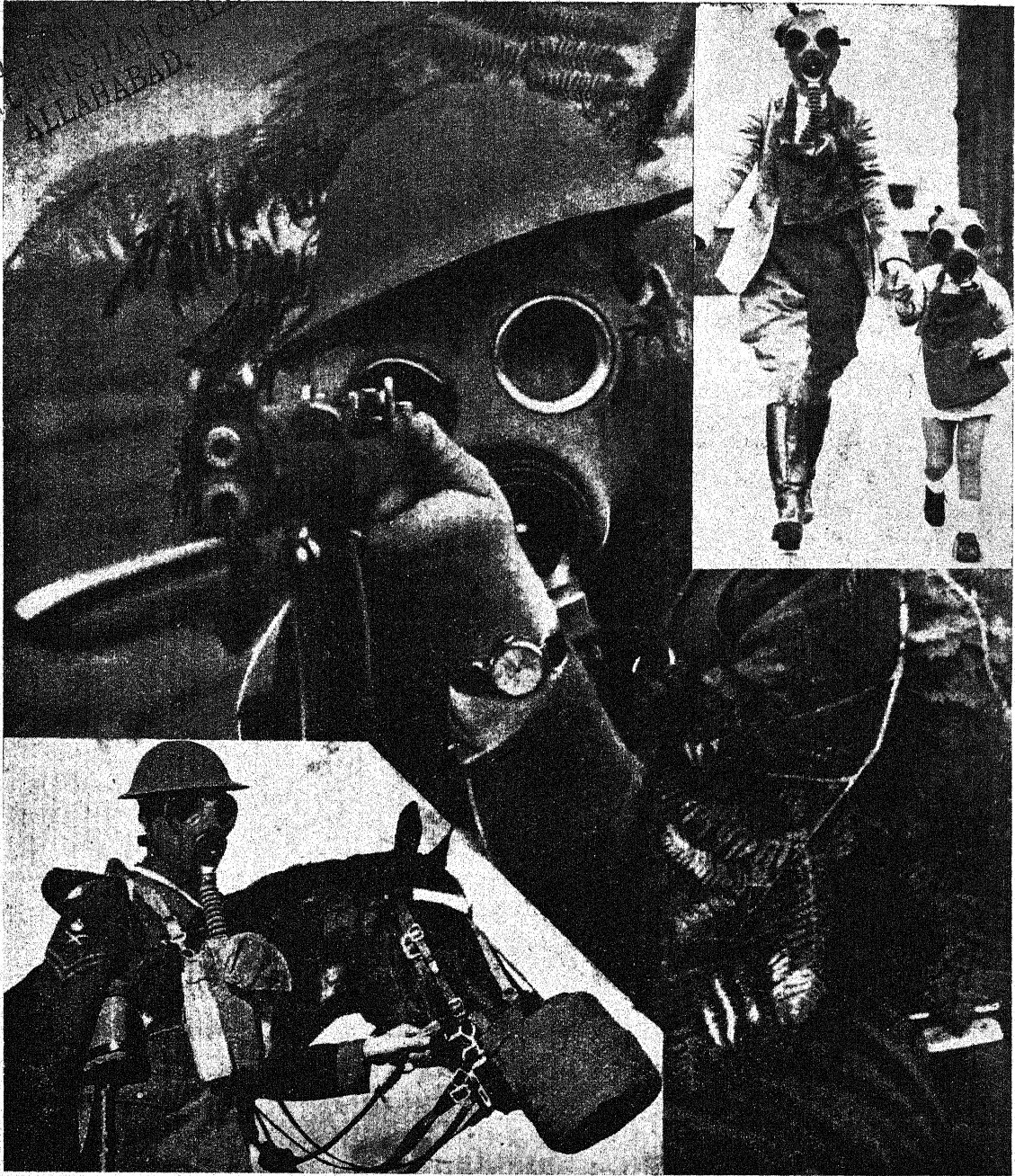
विषाक्त गैसों से रक्षा करनेवाला गैस-मास्क

(मध्य में) गैस के आक्रमण के समय युद्ध-भूमि में डटा हुआ एक योद्धा। गैस-मास्क उसे विषाक्त गैस से रक्षित किए हुए है। (ऊपर) ख़तरे के समय में गैस से बचने के लिए नागरिकों को गैस-मास्क पहन लेना आवश्यक होता है। इस चित्र में माता अपने बच्चे को गैस-मास्क पहनाए हुए लिये जा रही है, और वह स्वयं भी अपने प्राणों की रक्षा करने के लिए गैस-मास्क पहने हुए हैं। (नीचे) संकट के समय न केवल सैनिकों अथवा नागरिकों की, वरन् घोड़ों आदि पशुओं की भी गैस से रक्षा करना आवश्यक होता है। इस चित्र में सैनिक अपने घोड़े को भी गैस-मास्क पहिनाए हुए अपने कार्य के लिए तैयार है।

प्राणघातक क्लोरीन

रण-क्षेत्रों में काम में लाई जानेवाली भयंकर विषाक्त गैसों की कथा

एप्रिल, सन् १९१५। योरप में वसंत ऋतु यौवन पर था। किंतु इस बार वहाँ के युद्धव्यग्र देशों की वासंती आह्लाद-किलकारियाँ ईप्रेस के समर-क्षेत्र में रक्खी हुई तोपों के भीषण गर्जन में बदली हुई थीं। २२ तारीख़ की संध्या को एकाएक जर्मन तोपों का भयानक निर्घोष बंद हो गया। मित्र-राष्ट्रों के सिपाही, जिनमें ब्रिटिश, फ्रेञ्च और कनाडियन सभी थे, इस मौन के रहस्य को न समझ सके। उन्होंने कुतूहलवश पैरापटों के ऊपर से उत्तर की ओर झाँककर देखा। जर्मन खाइयों के सामने-सामने बहुत दूर तक पृथ्वीतल एक विचित्र प्रकार के कोहरे से ढका हुआ था। नीचे वह हरा-सा और ऊपर, जहाँ से अस्त होते हुए सूर्य की रश्मियाँ परावर्त्तित हो रही थीं, पीला दिखाई दे रहा था। इस अद्भुत बादल को देखकर मित्र-राष्ट्रों के दल विस्मित हो गए। किंतु इसे ही आग्नेय अस्त्रों के मौन का कारण समझकर उनकी निश्चिंतता और भी अधिक बढ़ गई। उत्तर-पवन द्वारा यह भूमिशायी बादल शीघ्रता से आगे बढ़ता चला आ रहा था। मित्र-राष्ट्रीय सैनिक टकटकी लगाए हुए इस विलक्षण बादल की ओर देख रहे थे, मानों कोई तमाशा हो। एकाएक वे छटपटाते हुए अपने हाथों को उपर झटकने, गलों को चुंगल में दबाने, और बहुत-से तो दम घुटने के कारण तड़प-तड़पकर भूमि पर गिरने भी लगे। अन्य सैनिक, इस पैशाची कोहरे से नितांत असहाय होने के कारण, पीछे खाइयों की कतारों को पार करते हुए बावलों की भाँति भागे। बहुतों ने ईप्रेस पहुँचने पर दम ली। वे इस विकराल वायव्य अस्त्र से घबड़ाकर इतने आचार-भ्रष्ट हो गए कि दूसरे दिन तक उन्हें एकत्र कर लेना संभव न हो सका। अफ़्रीका के जादू में विश्वास करनेवाले सिपाहियों के भय का तो ठिकाना न रहा था!
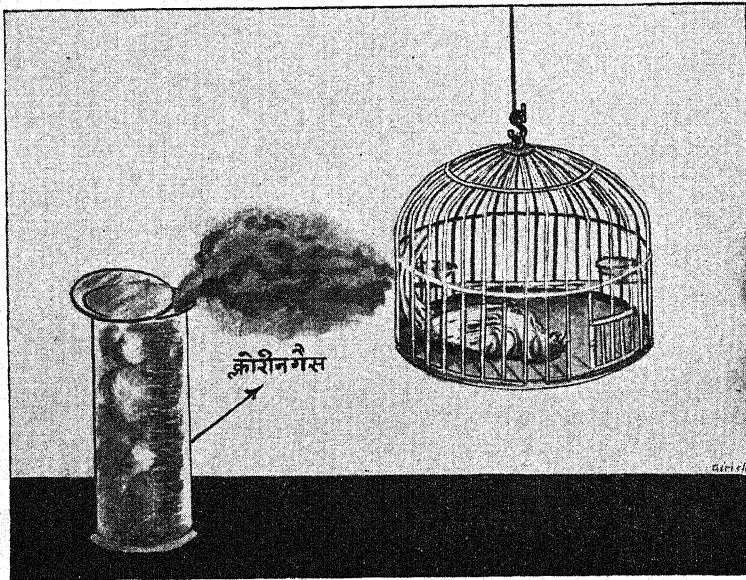
क्लोरीन गैस की विषाक्तता

कहीं आप धोखे से किसी पक्षी के समीप क्लोरीन से भरा कोई पात्र न खोल दें। नहीं तो — चिड़िया की-सी जान! — उसे ढुलकते देर न लगेगी। क्लोरीन की इसी विषाक्तता द्वारा मनुष्य वर्तमान महायुद्धों में मानव प्राणियों को नष्ट करने पर उतारू हुआ है।

* * *

लगभग एक

सप्ताह पहले ही जर्मनों ने आगे की खाइयों में क्लोरीन के सिलिण्डर लगभग एक-एक गज़ की दूरी पर लगाकर रख दिए थे। इन सिलिण्डरों की टोंटियों से सीसे की नलियाँ जोड़ दी गई थीं, और इन नलियों के सिरे पैरापटों के ऊपर रख दिए गए थे। एक भागे हुए जर्मन सैनिक ने इस भावी गैसीय आक्रमण के संबंध में मित्र-राष्ट्रों को सूचना दी; किंतु किसी ने इसमें विश्वास न किया, कारण हेग के अंतर्राष्ट्रीय शांति-सम्मेलनों में दो बार, अर्थात् १८६६ और १६०७ में, विषैली गैसों के निषेध का निर्णय हो चुका था। जर्मनों ने इस निर्णय की ज़रा भी परवा न की। २२ तारीख़ को संध्या समय, जब हवा ठीक दक्षिण अर्थात् मित्र-राष्ट्रों की सेना की ओर बह रही थी, एक साथ सब सिलिण्डरों के वाल्व खोल दिए गए। सीसे की नलियों के सिरों से क्लोरीन गैस सुरसुराती हुई तेज़ी से निकलने लगी। चक्कर काटती हुई वह आगे बढ़ती, और हवा से ढाई गुनी भारी होने के कारण, धरातल पर बादल के रूप में एकत्र होकर उत्तर-पवन द्वारा आगे चल पड़ती। अभी थोड़े ही समय पहले तोपों के कराल मुँह से प्रचंड शब्द के साथ डेढ़-डेढ़ फ़ीट व्यास के इस्पाती गोले छूट रहे थे, लेकिन जर्मनों को इनमें कुछ अधिक विश्वास न रहा था। यदि गोला निशाने पर बैठा भी, तब भी केवल स्थानीय संहार! और यदि चूका तो इधर-उधर छितरे हुए केवल कुछ इस्पात के टुकड़े! अतएव, जर्मनों ने बृहत्व को स्थगित करके लघुत्व की परीक्षा करनी चाही थी। एक इंच के दस करोड़वें भाग व्यास के क्लोरीन के अणु को अब उन्होंने अपना अस्त्र बनाया था। इसी अस्त्र के झुंड के झुंड कल्पनातीत संख्याओं में हवा में डोलते हुए चुपचाप आगे बढ़े चले जा रहे थे—सहसा चारों ओर से घेरकर सैनिकों के फेफड़ों पर आक्रमण करने और दम घोटकर उनके प्राणों को हर लेने के लिए! कितना विचित्र विपर्यय था!

गैस छोड़ चुकने पर जर्मन सैनिक अपने नवीन प्रयोग के परिणाम को देखने के लिए उत्सुकतापूर्वक आगे बढ़े। एक-एक करके वे मित्र-राष्ट्रों की खाइयों पर क़ब्ज़ा करते गए—उनका विरोध करनेवाला वहाँ कोई न था। हज़ारों मरे हुए सैनिक इधर-उधर बिखरे हुए अवश्य पड़े थे। उनके ऐंठे हुए शरीरों, काले पड़ गए चेहरों, और फटे हुए फेफड़ों के रक्त और फेन से सने हुए होठों से अब भी यह प्रकट हो रहा था कि कितनी घोर यातना में उनके प्राण निकले होंगे! मित्र-राष्ट्रीय सैनिकों द्वारा छोड़ी हुई बहुत-सी फ्रेञ्च और ब्रिटिश तोपें भी जर्मनों के हाथ लगीं।* अपने दुर्भाग्यवश जर्मन और आगे आक्रमण करने के लिए पहले से ही तैयार न थे। कदाचित् उन्हें विश्वास ही न था कि क्लोरीन इतना ग़ज़ब ढा देनेवाली गैस सिद्ध होगी। यदि वे पहले से ही तैयार होकर आगे बढ़ते जाते तो अमेरिकन लेखक डॉ० स्लॉसन की राय में जर्मनी '१६१८ के अंत में पराजित होने के स्थान में १६१५ के वसंत में ही लड़ाई जीत लेता'।

गैस के इस प्रथम आक्रमण में १७० टन क्लोरीन लगभग चार मील की दूरी तक छोड़ी गई थी। आहतों की संख्या लगभग २०,००० थी, जिनमें लगभग ५००० की मृत्यु हो गई थी।

गैसों की होड़

हेग के गैस-निषेधक निर्णय के भंग होते ही मित्र-राष्ट्र भी गैस के व्यवहार का प्रबंध ज़ोरों से करने लगे। सेप्टेम्बर, १६१५, में ब्रिटिश लोगों ने पहले-पहल क्लोरीन गैस का प्रयोग किया। किंतु जर्मन अपने गैस-संबंधी वैज्ञानिक अनुसंधानों में आगे ही बढ़े रहे, और विषाक्ततर गैसों की खोज और उनका उपयोग करते गए। जैसे ही मित्र-राष्ट्र भी किसी नवाविष्कृत गैस का निर्माण और उपयोग कर पाते, वैसे ही जर्मनी कोई अधिक भयानक नवीन विष मित्र-राष्ट्रों के क्षेत्र में छोड़ देता। इसीलिए युद्धक्षेत्रों में अधिकतर विषाक्त गैसों का प्रवेश जर्मनों द्वारा ही हुआ। इनमें प्राणनाशक गैसों का वर्गीकरण उनके विषाक्त प्रभाव के आधार पर निम्न तीन प्रकारों में किया गया है—(१) फुफ्फुस-प्रदाहक गैसें (Acute Lung Irritants), (२) फफोला गैसें (Vesicants), और (३) स्नायुघातक गैसें (Paralysants)। एक विशेष ध्यान देने योग्य बात यह थी कि प्रायः यह सभी विषाक्त पदार्थ क्लोरीन के ही यौगिक थे। जिस प्रकार नाइट्रोजन विस्फोटक पदार्थों का वीर-तत्त्व समझा जा सकता है, उसी प्रकार हम क्लोरीन को विषाक्त गैसों का वीर-तत्त्व कह सकते हैं। दूसरी ध्यान देने योग्य बात यह थी कि प्रायः ये सभी विषाक्त पदार्थ कार्बनिक (Organic) ही थे, अकार्बनिक (Inorganic) नहीं। साधारण दशाओं में इनमें से अधिकतर पदार्थ द्रव और एक-आध ठोस भी होते हैं; तथापि आक्रमण के समय इन पदार्थों के वाष्प-

*** यहाँ गैस के प्रथम आक्रमण की घटनाओं का वर्णन मुख्यतः सर आर्थर कॉनन-डॉयल कृत "हिस्ट्री आफ़ दि ग्रेट वार" के आधार पर किया गया है।**

रूप अथवा छोटे-छोटे बिंदुओं या धूलिकणों के रूप में उड़ने के कारण ये सब 'विषाक्त गैसों' (Poison gases) के नाम से ही विख्यात हैं। उनके द्रव या ठोस होने से एक सबसे बड़ी सुविधा यह रहती है कि बोतलों में भरकर वे गोलों और बमों में विस्फोटकों में गाड़कर रख दिए जा सकते हैं, और ये गोले और बम तोपों और वायुयानों द्वारा शत्रुओं पर फेंके जा सकते हैं। कुछ तरल विष वायुयानों अथवा टैङ्कों से शत्रु-क्षेत्रों पर छिड़क भी दिए जाते हैं।

फुफ्फुस-प्रदाहक गैसें

इस प्रकार की गैसों के प्रभाव से श्वासेन्द्रियों में अतीव जलन पैदा हो जाती है और फेफड़े ख़राब हो जाते हैं। इसीलिए इन्हें 'फुफ्फुस-प्रदाहक' कहते हैं। फुफ्फुस-प्रदाहकों से आक्रांत व्यक्ति की मृत्यु सीधे गैस के ही कारण नहीं होती; वरन्, जलन होने के कारण फेफड़े और श्वासमार्ग सूज जाते हैं जिससे, इनके बंद हो जाने के कारण, दम घुट जाता है। ऑक्सिजन गैस देने से रोगी को इसीलिए लाभ होता है। क्लोरीन की गणना इसी प्रकार की गैसों में है। हवा के दस हज़ार आयतनिक भागों में क्लोरीन का यदि एक भाग भी मिला हो तो इस मिश्रण में एक-दो मिनट से अधिक साँस लेने से फेफड़े ख़राब हो जाते हैं।

क्लोरीन के प्रथम आक्रमण के बाद ही दो सप्ताहों के भीतर प्रत्येक ब्रिटिश सिपाही को गैस-मास्क अथवा रेस्पिरेटर (आगे देखिए) से युक्त कर दिया गया था। इन रेस्पिरेटरों द्वारा उनकी क्लोरीन गैस से पूर्णतः रक्षा हो सकी। जब जर्मनों ने देखा कि उनके क्लोरीन के आक्रमण अपना प्रभाव खो बैठे हैं तो उनका ध्यान अन्य विषाक्त गैसों की ओर आकर्षित हुआ। अतएव उन्होंने दिसंबर १९१५ से क्लोरीन गैस के साथ एक अन्य अत्यधिक विषैली गैस को अधिकाधिक परिमाणों में मिलाकर छोड़ना शुरू कर दिया। इस गैस का नाम फ़ॉस्जीन था। जैसा कि उसके अणु-सूत्र $COCl_2$ से प्रकट है, यह गैस दो विषाक्त गैसों अर्थात् कार्बन मोनॉक्साइड (CO) और क्लोरीन (Cl_2) के रासायनिक संयोग से बनती है। इन दोनों गैसों को सूर्यप्रकाश में रखने पर वे तुरंत संयुक्त होकर फ़ास्जीन में परिणत हो जाती हैं। इसीलिए जॉन डेवी ने, जिसने सन् १८११ में इस पदार्थ का आविष्कार किया था, इसका नाम फ़ास्जीन रक्खा (फ़ास=प्रकाश, जीन=उत्पन्न, अर्थात् प्रकाश द्वारा उत्पन्न)। तथापि इसके निर्माण की आधुनिक विधि में सूर्य-प्रकाश नहीं, किंतु छिद्रमय कोयला काम में लाया जाता है। कोक को अपर्याप्त ऑक्सिजन में जलाकर पहले कार्बन मोनॉक्साइड गैस बना लेते हैं; फिर इस कार्बन मोनॉक्साइड में क्लोरीन गैस का उतना ही आयतन मिलाकर मिश्रण को आठ-आठ फ़ीट लोहे के बक्सों में भरे हुए छिद्रमय कार्बन (कोयले) से होकर प्रवा-

पिछले महायुद्ध में जर्मन रूसी सेनाओं की ओर विषाक्त गैसें छोड़ रहे हैं
आगे रक्खे हुए सिलिण्डरों से गैस चक्कर काटती हुई निकल रही है और बादल के रूप में एकत्र होकर आगे बढ़ रही है। पीछे तीन पंक्तियों में जर्मन सैनिक गैसाक्रमण के बाद धावा बोल देने की प्रतीक्षा में हैं। यह फ़ोटोग्राफ़ वायुयान से एक रूसी उड़ाकू ने लिया था।

हित करते हैं। कार्बन अपने उत्प्रेरक प्रभाव से दोनों गैसों को संयुक्त कर देता है।

फ़ॉस्जीन को रासायनिक भाषा में कार्बोनिल क्लोराइड कहते हैं। यह एक रंग-हीन, तीक्ष्ण गंधवाली और क्लोरीन से दसगुनी अधिक विषाक्त गैस होती है। तीन चौथाई क्लोरीन और एक चौथाई फ़ॉस्जीन का मिश्रण युद्ध के लिए सबसे अधिक कार्यसाधक प्रमाणित हुआ है। सामान्य दबाव में क्लोरीन केवल-३४°C तक ही, किन्तु फ़ॉस्जीन ८°C तक द्रवरूप में रह सकती है। इसीलिए क्लोरीन और फ़ॉस्जीन का मिश्रण क्लोरीन की अपेक्षा कम दबाव में ही संकुचित करके द्रवीभूत किया जा सकता है। अतएव, यह मिश्रण न केवल सिलिण्डरों में ही, किंतु गोलों और बमों में भी बोतलों में भर कर रक्खा जा सकता है। सिलिण्डरों से गैस छोड़ने पर सफलता हवा की दशा पर निर्भर रहती है। गोलों और बमों द्वारा दूर ही से वहीं की वहीं ख़बर ली जा सकी। एक-एक गोले में तीस-तीस पौण्ड तक फ़ॉस्जीन भरी रहती थी!

जो रेस्पिरेटर मित्र-राष्ट्रों की सेना में क्लोरीन के आक्रमण के बाद उपयुक्त हुए थे, उनमें फ़ॉस्जीन सरलतापूर्वक घुस सकती थी, अतएव फ़ॉस्जीन छोड़ने के पहले जर्मनों ने यह आशा बाँध रक्खी थी कि यह गैस मित्रराष्ट्रीय सेना का सर्वनाश कर देगी। किंतु भाग्यवश ब्रिटिश लोगों को ख़ुफ़िया तौर से जर्मनी के भावी फ़ॉस्जीन के आक्रमण का पता लग गया था। उन्होंने यह सूचना युद्ध के रासायनिक विभाग को भेज दी। १६ दिसंबर १६१५ को प्रातःकाल के समय जर्मनों ने ब्रिटिश क्षेत्रों पर पहले पहल १०० टन फ़ॉस्जीन छोड़ दी। तथापि उनकी आकांक्षाएँ पूरी न हुईं, और आक्रमण असफल रहा। ब्रिटिश सैनिकों ने पहले से ही ऐसे नए ढंग के मास्क पहन रक्खे थे, जिनमें फ़ॉस्जीन का शोषक 'हेक्सामेथिलीन टेट्रामाइन' भरा हुआ था। कुल आहतों की संख्या केवल १०१७ थी, जिनमें केवल १२० ही मरे थे।

१६१६ में जर्मनों और फ्रेञ्चों द्वारा एक अन्य विषाक्त द्रव का उपयोग हुआ। अणु के संगठन ($Cl.COOCCl_3$) के आधार पर इसका रासायनिक नाम 'ट्राइक्लोरमेथिलक्लोरोफार्मेट' लिया जाता है। फार्मिक ऐसिड ($H\cdot COOH$) के अणु में पहले हाइड्रोजन परमाणु के स्थान पर क्लोरीन का परमाणु, और दूसरे के स्थान पर 'ट्राइक्लोरमेथिल' (CCl_3) नामक परमाणु-समूह को रासायनिक विधियों द्वारा बिठा देने से यह पदार्थ बनता है। इसीलिए इसका नाम यह पड़ा। कार्बनिक रसायन में इतने बड़े नाम असाधारण नहीं होते। यह पदार्थ १२८°C पर उबलनेवाला एक द्रव होता है, अतएव इन गोलों और बमों में सरलतापूर्वक भरा जा सकता है। विषाक्तता में फ़ॉस्जीन से यह कुछ अधिक ही होता है।

इसी वर्ष से क्लोरीन के एक अन्य कार्बनिक यौगिक 'क्लोरो-पिक्रिन' (CCl_3NO_2) का भी उपयोग, जर्मनों और मित्रराष्ट्रों दोनों की ओर से, प्रारंभ हुआ। क्लोरोपिक्रिन ११२°C पर उबलनेवाला एक द्रव होता है। यह पिक्रिक ऐसिड (दे० पृ० ११६४) पर क्लोरीन की रासायनिक क्रिया द्वारा बनता है, इसीलिए इसे क्लोरो-पिक्रिन कहते हैं। इसे बनाने के लिए क्लोरीन ब्लीचिंग पाउडर (दे० पृ० १६५२) के रूप में और पिक्रिक ऐसिड कैल्शियम पिक्रेट के रूप में ली जाती हैं। ब्लीचिंग पाउडर को पानी के साथ मिलाकर एक पतला लेप बना लेते हैं, और यह लगभग १८ फ़ीट ऊँची और ८ फ़ीट व्यास की एक डेग में भर लिया जाता है। इसमें पंप द्वारा कैल्शियम पिक्रेट के घोल को ले जाकर मिला दिया जाता है। प्रतिक्रिया के आरंभ होते ही मिश्रण गर्म होने लगता है, और फिर इतना गर्म हो जाता है कि बाहर निकलती हुई भाप के साथ क्लोरो-पिक्रिन भी स्रवित होने लगता है। द्रवीभूत होने पर क्लोरो-पिक्रिन पानी से भारी होने के कारण नीचे की तह में इकट्ठा हो जाता है और वहाँ से उसे निकालकर गोलों में भर लिया जाता है। विषाक्तता में क्लोरो-पिक्रिन ट्राइक्लोरमेथिलक्लोरोफ़ार्मेट के ही बराबर होता है। गोलों अथवा बमों में क्लोरो-पिक्रिन के साथ बहुधा २० प्रतिशत टिनक्लोराइड (स्टैनिक क्लोराइड $SnCl_4$) भी भर दिया जाता है, जिसके कारण हवा में एक घना सफ़ेद धुआँ फैल जाता है। यह धुआँ गैस-मास्क के भीतर भी पैठ जाता है। हवा में रहनेवाली जलवाष्प की प्रतिक्रिया द्वारा टिनक्लोराइड से स्टैनिक ऐसिड और हाइड्रोक्लोरिक ऐसिड गैस का उत्पादन होता है, और यह अम्लीय गैस नाक, गले और फेफड़ों में एक तीव्र जलन पैदा कर देती है। इसके अलावा क्लोरो-पिक्रिन के व्यवहार में विशेष बात यह होती है कि इसके प्रभाव से आक्रांत व्यक्ति का जी मतलाने लगता है और उसे क़ै होने लगती हैं। इससे उसे गैस-मास्क उतार देना पड़ता है, और उसे उतारते ही वह बाहर फैली हुई घोर विषाक्त गैसों का शिकार हो जाता है।

फफोला-गैसें

सन् १९१७ में जर्मनों ने युद्ध-क्षेत्र में एक बिलकुल नए विषाक्त पदार्थ का प्रवर्त्तन किया। इसका लोकप्रिय नाम मस्टर्ड गैस है, क्योंकि उसमें कुछ-कुछ सरसों (Mustard) की-सी गंध आती है। इसका दूसरा नाम ईपराइट (Yperite) भी है, क्योंकि यह सबसे पहले ईप्रेस के क्षेत्र पर छोड़ा गया था। उसके अणु की रासायनिक रचना [$(CH_2ClCH_2)_2S$] के आधार पर उसे 'डाइ-क्लोरो-डाइ-एथिल सल्फाइड' भी कहते हैं। किन्तु स्वयं रसायनशास्त्री भी इस बड़े-से नाम से घबड़ाकर उसे अधिकतर 'मस्टर्ड गैस' ही कहा करते हैं। कहा जाता है कि गत महायुद्ध में सबसे अधिक मौतें इसी पदार्थ द्वारा हुई थीं। यह विषाक्त 'गैस' भी वस्तुतः गैस नहीं होती, वरन् २१७°C पर उबलनेवाला और १४°C के नीचे जमकर ठोस हो जानेवाला एक द्रव होता है। या तो वह गोलों और बमों में भरकर रख दिया जाता है, अथवा वायुयानों और टैंकों से फ़व्वारे के रूप में शत्रु-क्षेत्र पर छिड़क दिया जाता है। यह बड़ा ही विश्वास-घातक विष होता है। मिट्टी में मिला हुआ वह कई दिनों या हफ़्तों तक पड़ा रहता है। अधिक सर्दी में उसका वाष्पीभवन नहीं होता, किंतु तापक्रम बढ़ते ही वह वाष्प में परिणत होकर हवा में मिलने लगता है। पानी की क्रिया से भी वह बहुत दिनों तक नष्ट नहीं होता। उसमें इतनी हल्की गंध होती है कि मनुष्य मृत्यु के मुख में जाते हुए भी उसका पता नहीं पा सकता। केवल गैस-मास्क के ही द्वारा इस विष से पूर्णतः रक्षा नहीं हो सकती; कारण, त्वचा पर भी इसके लग जाने से फफोले पड़ आते हैं जिनमें बड़ी ही तीव्र पीड़ा होती है। अतएव, इससे बचने के लिए गैस-मास्क के अलावा रबर, मोम-जामा आदि अभेद्य कपड़ों के बने हुए वस्त्र भी पहनने
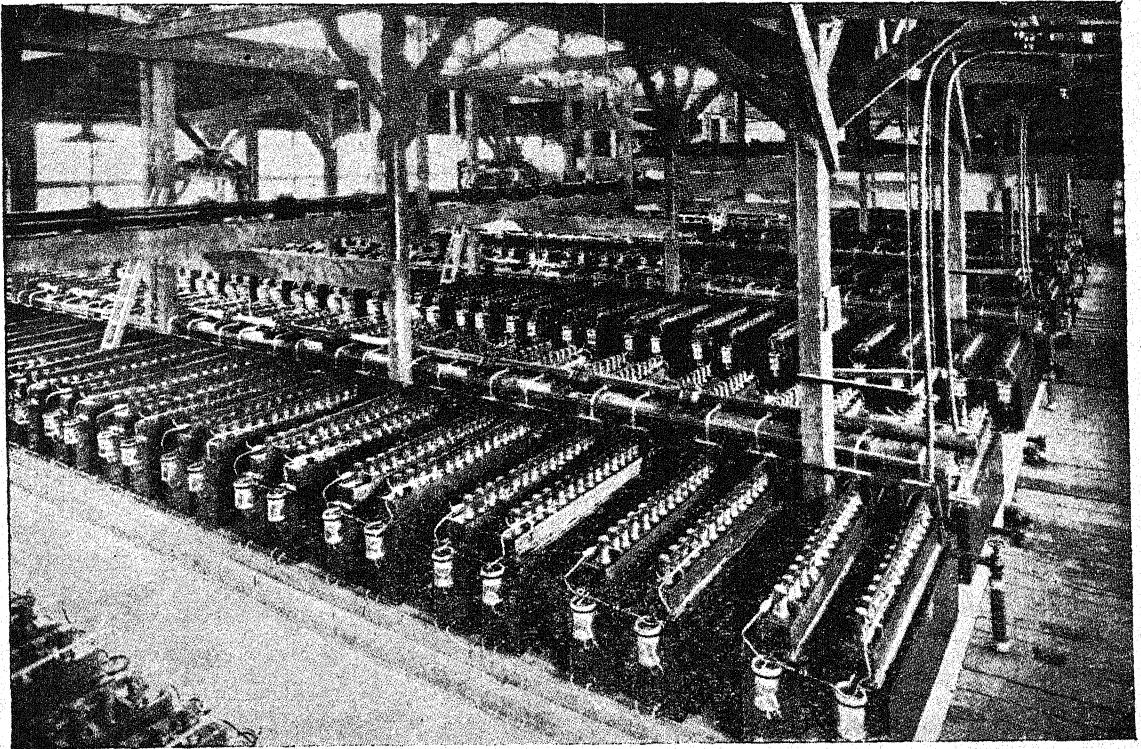
युद्ध के लिए क्लोरीन का बृहत् परिमाणों में निर्माण

पिछले अंक में हम नमक के घोल से क्लोरीन, हाइड्रोजन और कॉस्टिक सोडा का निर्माण करनेवाले नेल्सन के कोष्ठ का वर्णन कर चुके हैं। इस चित्र में प्रदर्शित एक अमेरिकन फैक्टरी में इसी प्रकार के सहस्रों कोष्ठ पंक्ति-बद्ध रक्खे हुए हैं। गत महायुद्ध के समय इस कार्यालय में इसी प्रकार के आठ कमरे थे और उसमें प्रतिदिन २,००,००० पौण्ड क्लोरीन तैयार की जा सकती थी। इस क्लोरीन से विभिन्न विषाक्त गैसों का निर्माण होता था।

पड़ते हैं। गैस-मास्क भी कब तक पहने रहना आवश्यक है, इसका भी अनुमान कर लेना कठिन रहता है। ऐसा भी हुआ है कि लगातार बारह घंटे तक गैस-मास्क पहनने के बाद भी जब सैनिकों ने उन्हें उतारा तब भी वह हवा में मौजूद थी और उन्हें उसका शिकार होना पड़ा। एक धोखे की बात यह भी होती है कि मस्टर्ड गैस का प्रभाव तुरंत ही प्रकट नहीं होता, जिससे मनुष्य इसमें अनजान में ही बहुत देर तक साँस लेते चले जाते हैं, अथवा इसका स्पर्श करते रहते हैं। यदि हवा के एक लाख आयतनिक भागों में मस्टर्ड गैस का एक भाग रहे, तो इसमें एक घंटे तक साँस लेने के बाद ही इसका प्रभाव प्रकट होता है, अर्थात् आँखों, नाक, गले और फेफड़ों में जलन पैदा हो जाती है, और श्वासमार्ग और फेफड़ों के सूज जाने के कारण या तो आक्रांत की शीघ्र ही मृत्यु हो जाती है अथवा फेफड़ों के घायल और निर्बल हो जाने के कारण वह बाद में न्युमोनिया, ब्रांकाइटिस आदि रोगों से ग्रस्त होकर बहुधा समाप्त हो जाता है। इसके अलावा, मस्टर्ड गैस का वाष्प चुपचाप सैनिकों के वस्त्रों में भी भिदता रहता है, और जैसे ही कार्यव्यस्त होने के कारण उनके शरीर गर्म हो जाते हैं, वह त्वचा पर विशेषतः बग़लों में आक्रमण करके फफोले डाल देता है। इस पदार्थ के लग जाने पर उसे तुरंत ही साबुन से धो डालना और यदि आँखों पर भी असर पहुँचा है तो गुनगुने पानी से धोकर उनमें रेंड़ी का तेल डाल देना आवश्यक होता है।

'मस्टर्ड गैस' को सबसे पहले गुथ्री नामक एक अंग्रेज़ ने १८६० ई० में बनाया था। १८८६ में जर्मन रासायनिक विक्टर मेयर ने उसका आविष्कार फिर से किया, किन्तु इस पदार्थ के साथ प्रयोग करना इतना संकटमय प्रमाणित हुआ कि उसे अपने इस अन्वेषण-संबंधी कार्य को त्याग ही देना पड़ा। इसके लगभग तीस वर्ष बाद, १२ जुलाई, १९१७, के दिन, जर्मनों ने एकाएक इसे ईप्रेस के रण-क्षेत्र में ब्रिटिश सेना के ऊपर छोड़कर इसे विख्यात कर दिया। सब मिलाकर ५०,००० गोले ब्रिटिश खाइयों में फेंके गए थे, और इन सबमें कुल मिलाकर १३० टन मस्टर्ड गैस भरी हुई थी। इसके बाद मित्र-राष्ट्रों ने भी इसका उपयोग किया।

बड़े परिमाणों में यह विष क्लोरीन, अल्कोहोल और गंधक (सल्फ़र) से बनाया जाता है। एक लोहे का खड़ा हुआ नल चीनी मिट्टी के टुकड़ों से भरकर गर्म किया जाता है, और उसमें भापमिश्रित अल्कोहोल-वाष्प प्रवाहित किया जाता है। अल्कोहोल (C_2H_5OH) इस प्रकार इथिलीन गैस (C_2H_4) और भाप (H_2O) में विच्छिन्न हो जाता है। इसके साथ-ही-साथ गंधक को पिघलाकर उसमें क्लोरीन गैस बुलबुलाई जाती है, जिससे दोनों तत्त्व संयुक्त होकर सल्फ़र मोनोक्लोराइड (S_2Cl_2) का उत्पादन करते हैं। यह सल्फ़र क्लोराइड एक तरल पदार्थ होता है और टैङ्कों की एक श्रेणी में इकट्ठा कर लिया जाता है। इस द्रव में इथिलीन गैस महीन छिद्रों द्वारा बुलबुलाई जाती है और 'मस्टर्ड गैस' नामक द्रव बनकर इकट्ठा हो जाता है। जैसा कि सूत्र से प्रकट है, इसके एक अणु में इथिलीन गैस के दो अणु, गंधक का एक परमाणु और क्लोरीन के दो परमाणु संबद्ध रहते हैं।

गत महायुद्ध के अंतिम वर्ष में अमेरिका के प्रोफ़ेसर लीविस ने मस्टर्ड गैस से भी अधिक प्राणनाशक पदार्थ 'लीविसाइट' ($C_4H_2AsCl_3$) बहुत बड़े परिमाणों में ऐसेटिलीन गैस (C_2H_2) और आर्सेनिक ट्राइक्लोराइड ($AsCl_3$) की प्रक्रिया से बनाया था। इसका रासायनिक नाम मस्टर्ड गैस के नाम से भी अधिक बड़ा अर्थात् 'डाइ-क्लोरो-बीटा-क्लोरो-विनिल आर्सीन' है। वर्तमान महायुद्ध में, संभव है, यह पदार्थ काम में लाया जाय।

स्नायुघातक गैस—हाइड्रोसायनिक ऐसिड

हाइड्रोसायनिक ऐसिड (HCN) का दूसरा नाम 'प्रूसिक ऐसिड' है। सबसे पहले इसका उपयोग मित्रराष्ट्रों ने गत महायुद्ध में १९१६ में किया था। नीचे तापक्रमों पर यह एक रंगहीन द्रव होती है, जो २६·५°C पर उबलकर गैस में परिणत हो जाती है। प्राणनाश के लिए २००० वायु-भागों में इसके एक भाग का रहना आवश्यक है। इससे यह प्रकट है कि अन्य विषाक्त गैसों की अपेक्षा इसका हवा में अत्यधिक मात्रा में मिश्रित रहना आवश्यक होता है। बहुधा इसका समाहरण इस सीमा तक नहीं पहुँच पाता, और आक्रमण बेकार हो जाता है। जर्मनों ने इसीलिए इसका उपयोग व्यर्थ समझा। किंतु, इस सीमा के पहुँचते ही आक्रांत कुछ ही क्षणों में मृत्यु का शिकार हो जाता है। इसका प्रभाव मस्तिष्क के स्नायुमंडल पर पड़ता है, जिससे फेफड़ों और हृदय की गति एकाएक रुक जाती है। इस विष में कड़वी बादाम की-सी गंध होती है, किंतु हवा में प्राणघातक परिमाणों में भी मिली होने पर कुछ देर बाद, नाक के परदों के प्रभावित हो जाने के कारण, उसकी गंध मालूम नहीं होती। इसीलिए मनुष्य उससे बचने के लिए ऐसे स्थान में हटकर जा सकता है

जहाँ वह और भी अधिक अंशों में मौजूद हो और इस प्रकार मृत्यु का शिकार बन सकता है। इस विष के प्रति कुत्तों की घ्राण-शक्ति मनुष्य से कहीं अधिक प्रबल होती है, अतएव उसकी उपस्थिति को मालूम करने के लिए वे काम में लाये जा सकते हैं।

'गैसमास्क' या 'रेस्पिरेटर'

विषाक्त गैसों के उपयोग की संभावना होते ही उनसे प्राणों की रक्षा करने के लिए शीघ्र ही आवश्यक साधनों की खोज होने लगी। इसी के फलस्वरूप गैसमास्कों अथवा रेस्पिरटरों का विकास हुआ। ये गैसमास्क एक ही सिद्धांत पर किंतु भिन्न-भिन्न ढंगों के बने होते हैं। यहाँ उनके निर्माण के सिद्धांतों के समझाने के लिए एक बहुप्रचलित ढंग के रेस्पिरेटर का रेखा-चित्र (दे० पृ० १७६६) दिया हुआ है। इसमें साँस लेने के लिए हवा एक ऐसे कनिस्टर से होकर पहुँचती है जिसमें विषाक्त धुओं को अलग कर देने के लिए यांत्रिक छन्नों और विषाक्त गैसों के रासायनिक शोषकों की तहें लगी रहती हैं। गैसों का एक बड़ा ही अच्छा और सस्ता शोषक कड़े काठ, यथा नारियल या अन्य फलों के खपटों अथवा बेत की लकड़ी, का कोयला होता है। यह कोयला बहुत ही छिद्रमय होता है। कड़े काठ को अपर्याप्त हवा में सुलगाकर इसे बनाते हैं, और कनिस्टरों में भरने के पहले अपर्याप्त हवा अथवा भाप में ६००°C पर गर्म कर लेते हैं। ऐसा करने से उसके रंध्रों में अटके हुए हवा और अन्य पदार्थ निकल जाते हैं और उसकी शोषकता बढ़ जाती है। बहुधा, कोयला बनाने से पहले, काठ में ज़िङ्क क्लोराइड या मैग्नेशियम क्लोराइड लवण शोषित कर लेते हैं। इस प्रकार बने हुए कोयले को नमक या गंधक के अम्ल के घोल और पानी से धोते हैं, जिससे यह लवण घुलकर छिद्रों से अलग हो जाते हैं। इस प्रकार बने हुए कोयले की शोषकता साधारण रीति
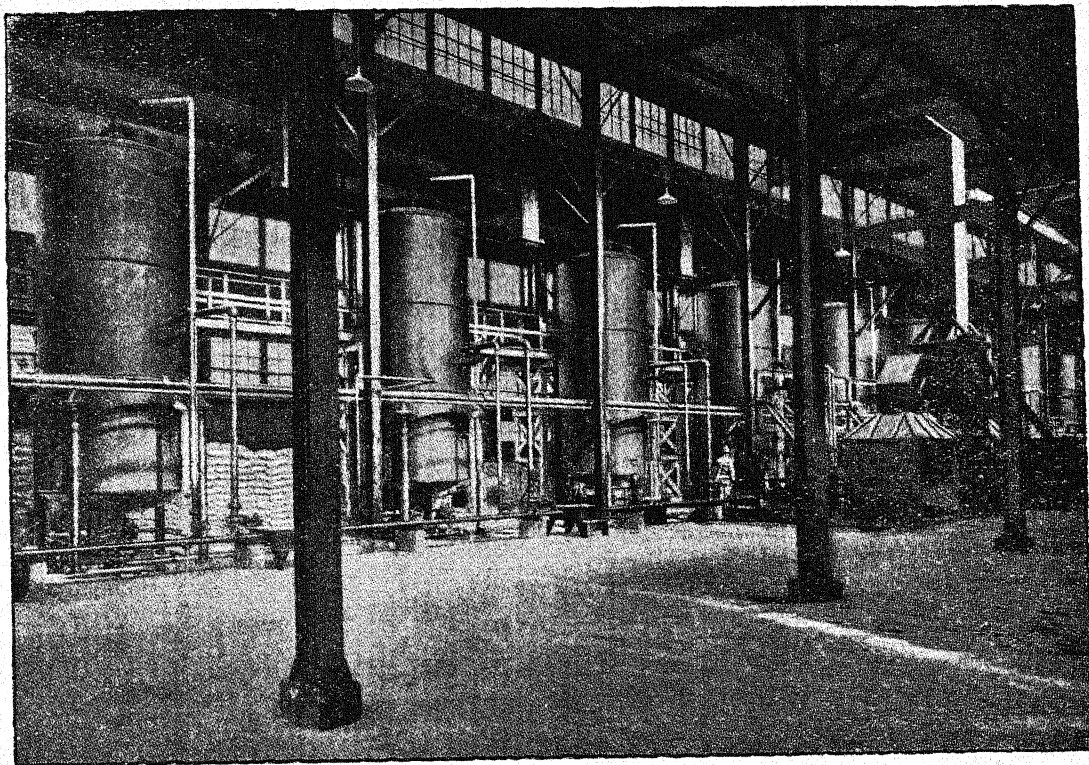
अमेरिका की क्लोरोपिक्रिन निर्माण करनेवाली एक फैक्टरी

विशाल बेलनाकार डेगों में पानी के साथ ब्लीचिंग पाउडर, चूना और पिक्रिक ऐसिड का मिश्रण भरा रहता है। इन पदार्थों की परस्पर प्रक्रिया द्वारा इतनी गर्मी का उद्भवन होता है कि पानी और क्लोरोपिक्रिन स्रवित होकर बाहर एकत्र होने लगते हैं। महायुद्ध के समय में इस कारख़ाने में प्रतिदिन ३१ टन क्लोरोपिक्रिन बनता था।

से बने हुए कोयले की अपेक्षा कहीं अधिक होती है। कोयले में गैसों का शोषण किसी रासायनिक क्रिया द्वारा नहीं होता, उसके पृष्ठ में ही गैसाणुओं को संलग्न कर लेने का अद्भुत गुण रहता है। अत्यंत रंध्रमय होने के कारण थोड़े-से ही कोयले में बहुत-सा पृष्ठ उपलब्ध रहता है, अतएव कोयले का एक आयतन गैसों के सैकड़ों आयतनों तक को शोषित कर लेता है। इस प्रकार के शोषण को अंग्रेज़ी में ऐडसॉर्प्शन (Adsorption) और हिन्दी में अधिशोषण अथवा अपशोषण कहते हैं। अपेक्षतः, ऑक्सिजन और नाइट्रोजन गैसें कोयले में बहुत कम अधिशोषित होती हैं। देखा तो यह गया है कि जो गैस जितनी ही सरलता से द्रवीभूत होती है, उतनी ही अधिक कोयले में शोषित होती है। सभी विषाक्त गैसें सरलतापूर्वक द्रवीभूत हो जानेवाली होती हैं, अतएव कोयला इन्हीं गैसों को शोषित करता है, हवा की ऑक्सिजन और नाइट्रोजन को नहीं। इस प्रकार हवा रुकती नहीं। वरन् साँस लेने के लिए निरंतर पहुँचती रहती है। धुएँ के कण गैसों के अणुओं से अत्यधिक बड़े होते हैं, और इसीलिए वे गैसाणुओं की भाँति सवेग चलायमान नहीं होते। अतएव, विषाक्त पदार्थों के बहुत-से धूम्रकणों को कोयले के पृष्ठ को छूने का अवसर ही नहीं मिलता, और वे कोयले के टुकड़ों के बीच से होकर निकल जाते हैं। धुएँ को अलग कर देने के लिए यांत्रिक छन्ने की आवश्यकता इसीलिए पड़ती है। गैसों को शोषित करने के लिए कोयले के अलावा छः रासायनिक शोषकों की भी आवश्यकता रहती है। बची हुई गैस को ये पदार्थ अपनी रासायनिक क्रिया द्वारा परिवर्त्तित करके शोषित कर लेते हैं। इन रासायनिक शोषकों के कुछ उदाहरण सोडालाइम, पोटैशियम परमैङ्गनेट, निकेल के लवण, हेक्सामेथिलीन-टेट्रामाइन, आदि पदार्थ हैं।

इस प्रकार प्रायः शुद्ध हवा गैसप्रूफ़ कपड़े के नल (हौज़) में होती हुई ऊपर पहुँचती है। चेहरा गैसप्रूफ़ कपड़े अथवा रबड़ की एक टोपी से ढका रहता है। इसमें आँखों के सामने, देखने के लिए, दो पारदर्शक चश्मे लगे रहते हैं। ऊपर चढ़ती हुई हवा इन्हीं टुकड़ों से टकराकर नीचे की ओर मुड़ जाती है और साँस के लिए पहुँचती रहती है। बाहर आती हुई साँस एक दूसरे रास्ते से निकलती जाती है। गैसमास्क पहने हुए सैनिक में उतनी कार्यक्षमता नहीं रहती। न वह खा-पी सकता है और न भली प्रकार देख या बोल ही सकता है, अतएव उसे पहने-पहने वह शीघ्र ही थक जाता है। तथापि समय पड़ने पर उसे पहने रहना ही प्राणों की रक्षा के लिए एक-मात्र साधन है।

रेस्पिरेटर के विकास के साथ-ही-साथ उसे पराजित करनेवाले पदार्थों की भी आवश्यकता पड़ी। अतएव ऐसे विषाक्त द्रव और ठोस ढूँढ़ निकाले गए जिनके धुएँ कोयले अथवा रासायनिक शोषकों द्वारा पूर्णतः शोषित नहीं होते, और जिनके प्रभाव से मनुष्य विवश होकर मास्क को उतार डालता है। इस प्रकार रेस्पिरेटरों के उतरते ही सैनिकों को हवा में मिली हुई विषाक्ततर गैसों का शिकार हो जाना पड़ता है। ये विषाक्त पदार्थ भी प्रायः या तो क्लोरीन के अथवा क्लोरीन के ही कुटुंब के अन्य तत्त्व ब्रोमीन और आयोडीन के कार्बनिक यौगिक होते हैं। अपने प्रभाव के अनुसार इनका विभाजन दो प्रकारों में हुआ है।

अश्रुगैस और छींक-गैस

अश्रु-गैस को अंग्रेज़ी में 'टियर गैस' (Tear gas) या 'लैक्रिमेटर' (Lachrymator) कहते हैं। ये नाम इसलिए पड़े कि इस प्रकार की गैसों के प्रभाव से आँखों में जलन होकर उनसे पानी की धारा बहने लगती है। इस कष्ट के कारण आक्रांत व्यक्ति को गैस-मास्क उतार देना पड़ता है। जर्मनों ने सबसे पहले १९१५ में ज़ाइलिल ब्रोमाइड ($CH_3.C_6H_4.CH_2Br$) और बेन्ज़िल ब्रोमाइड ($C_6H_5CH_2Br$) नामक पदार्थों का 'अश्रु-गैसों' के रूप में प्रयोग किया। ये दोनों विषाक्त 'गैसें' शुद्ध दशा में रंगहीन और साधारणतया पीली-सी द्रव होती हैं, और क्रमशः उबलते हुए ज़ाइलीन ($CH_3.C_6H_4.CH_3$) और टाल्वीन ($C_6H_5CH_3$) नामक कार्बनिक द्रवों पर ब्रोमीन की क्रिया द्वारा तैयार की जाती हैं। ये दोनों कार्बनिक द्रव (ज़ाइलीन और टाल्वीन) कोलतार से आंशिक स्रवण द्वारा निकाले जाते हैं।

हवा के बीस लाख आयतनिक भागों में यदि इन विषाक्त पदार्थों का एक भाग भी मिला रहे, तब भी जलन और आँसुओं के मारे आक्रांत व्यक्ति बेकार हो जाता है और देख तक भी नहीं सकता। अत्यधिक प्रभाव से वह अंधा भी हो सकता है। अश्रुगैस से आक्रांत व्यक्ति की आँखों को गुनगुने या नमकीन पानी से शीघ्र ही धो देना लाभप्रद होता है।

'फ़ेनिल कार्बिलमाइन क्लोराइड' और 'एथिल आयडो-ऐसेटेट' नामक पदार्थों का भी उपयोग 'अश्रु-गैस' के रूप में हुआ है। एथिल आयडो-ऐसेटेट ($CH_2ICOOC_2H_5$)

द्रव का उपयोग सबसे पहले ब्रिटिश लोगों ने १९१६ में किया था। हवा के पचास लाख आयतनिक भागों में यदि इस द्रव की वाष्प का एक भाग भी मिला हो तो यह अश्रुगैस का काम देती है, और यदि उसकी मात्रा इससे सौगुनी हो तो एक ही दो मिनट साँस लेने से फेफड़े ख़राब हो जाते हैं।

युद्ध के बाद अश्रुगैसें दंगों को दबाने के लिए बहुधा काम में लाई गईं। इनसे भरे हुए हलके बमों को बलवाइयों के बीच में फेंकने से वे इसके कष्टप्रद प्रभाव से बचने के लिए तितर-बितर हो जाते हैं। भारतवर्ष में भी इन गैसों का कुछ उपयोग सफलतापूर्वक हुआ था, और कुछ समय हुआ इस बात का आंदोलन भी हुआ था कि गोली चलाने के स्थान पर अश्रुगैसों को ही काम में लाया जाय।

छींक-गैस को अंग्रेज़ी में 'स्नीज़-गैस' (Sneeze Gas) अथवा 'स्टर्नुटेटर' (Sternutator) कहते हैं। हवा में अत्यंत न्यूनांशों में भी मिले रहने से इस प्रकार के पदार्थ आँखों, नाक, श्वास-मार्ग, तथा फेफड़ों को प्रभावित करते हैं, और एक विशेष बात यह होती है कि उनके प्रभाव से ज़ोरों से छींकें आने लगती हैं। इसके अलावा आँख, नाक, और गले में बड़ी ही तीव्र पीड़ा होने लगती है, और जी मतलाने लगता है। जर्मनों ने सबसे पहले १९१७ में डाइफ़ेनिल-क्लोर-आर्सीन [$(C_6H_5)_2AsCl$)] नामक 'छींक-गैस' का उपयोग महायुद्ध में किया था। जैसा कि अणु-सूत्र से स्पष्ट है, यह पदार्थ कार्बनिक अणु-भाग 'फ़ेनिल' (Phenyl, C_6H_5), संखिया के धातव तत्त्व आर्सेनिक (As), और क्लोरीन के संयोग से बना है। यह एक श्वेत, ठोस, लहसुन के समान गंधवाला पदार्थ होता है और ४३°C पर पिघलता और ३३३°C पर उबलता है। इसके प्रभाव के लक्षणों के प्रकट होने में थोड़ी-सी देर लगती है। डाइफ़ेनिलसायनार्सीन [$(C_6H_5)_2AsCN$] इसी प्रकार का एक अन्य छींक-जनक ठोस पदार्थ है, जिसे जर्मनों ने सबसे पहले १९१८ में काम में लिया था। इसके और पहले पदार्थ के अणु में अंतर केवल यही है कि इसमें क्लोरीन के स्थान में सायनाइड (CN) नामक अणु-भाग रहता है। हवा के एक करोड़ आयतनिक भागों में इन दोनों पदार्थों में से किसी के एक भाग से भी कम अंश मिला रहने पर मनुष्य इसके प्रभाव द्वारा बेकार हो जाता है, और यदि हवा के पचास हज़ार भागों में ही एक भाग मिल गया हो तो

उपनेत्रों से टकराकर नीचे जाती हुई हवा
हवा निकलने का वाल्व
वायु-मार्ग
कनिस्टर
हवा के लिए प्रवेश-वाल्व
धुएँ का छन्ना
कोयला, सोडा, लाइम अथवा अन्य रासायनिक शोषक
Girish
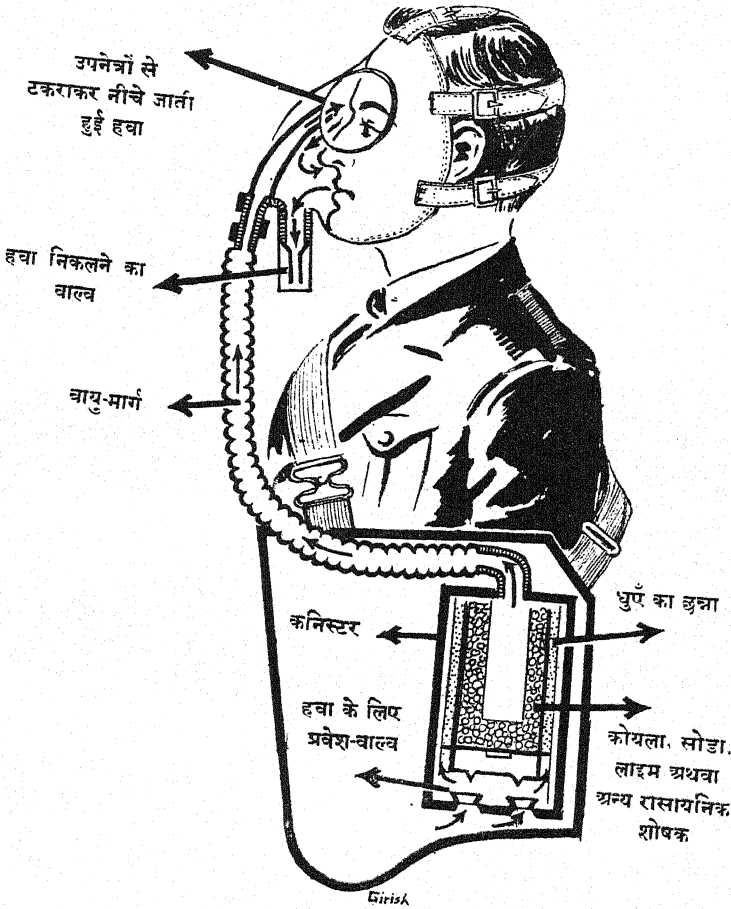
गैस-मास्क की बनावट

साँस अंदर लेने पर कनिस्टर के प्रवेश-वाल्व खुल जाते हैं और हवा भीतर चली जाती है। कनिस्टर में वह छन्नों और शोषकों द्वारा शुद्ध होकर साँस के लिए ऊपर पहुँचती रहती है। साँस छोड़ने पर प्रवेश-वाल्व बंद हो जाते हैं, और निकलने के मार्ग का वाल्व खुल जाता है। इस प्रकार दूषित वायु कनिस्टर की ओर नहीं पहुँचती वरन् दूसरे ही मार्ग से बाहर निकलती रहती है।

एक ही दो मिनट साँस लेने से फेफड़े भी विक्षत हो जाते हैं। १९१८में जर्मनों द्वारा एथिल डाइक्लोर-आर्सीन ($C_2H_5As Cl_2$) और मेथिल डाइक्लोर-आर्सीन(CH_3AsCl_2)नामक छींक गैसों का भी उपयोग पहले-पहल हुआ। साधारण अवस्थाओं में ये दोनों क्रमशः १५६°C और १३१°C पर उबलनेवाले द्रव होते हैं। ये उतने तीव्र स्टर्नुटेटर नहीं होते, और मनुष्य को अपने प्रभाव द्वारा बेकार कर देने के लिए ५०,००० वायुभागों में ही इनका एक भाग रहना आवश्यक होता है। इससे ढाई गुने परिमाण में होने पर ये फेफड़ों को भी ख़राब कर देते हैं। यह बात ध्यान देने योग्य है कि छींकजनक पदार्थों में संखिया का तत्त्व 'आर्सेनिक' अवश्य ही रहता है। छींक-गैस द्वारा प्रभावित व्यक्ति को सोडियम बाइकार्बोनेट के घोल को सुड़कने और उसीसे ग़रारा करने से आराम मिलता है।

बृहद् परिमाणों में उपयोग

गत महायुद्ध में किन परिमाणों में विषाक्त गैसों का उपयोग हुआ था, इसका अनुमान निम्नांकों से लगाया जा सकता है। जितनी मस्टर्ड गैस का उपयोग हुआ था उसका बोझ १२,००० टन था। लड़ाई के समाप्त होने के पहले केवल अमेरिका युद्ध के लिए प्रतिमास लगभग १००० टन क्लोरीन, ८०० टन क्लोरोपिक्रिन, १००० टन फ़ॉस्जीन, और ५५० टन मस्टर्ड गैस तैयार कर रहा था। कहते हैं कि ११ मार्च, १९१८, को जर्मनों ने मित्र-राष्ट्रों की खाइयों में एक ही दिन में विषाक्त गैसों के एक लाख पचास हज़ार गोले फेंके थे, जिनमें ४०० टन विषाक्त गैसें भरी हुई थीं।

अनावश्यक भय

साधारण लोग गैस को बड़ा ही भयंकर और संहारक अस्त्र समझते हैं। कुछ कारणों से उनका भय ठीक भी है। वह अचानक धोखे से लोगों का शिकार कर सकती है, उसके लिए निशाना लगाने की भी आवश्यकता नहीं। गड्ढों, कोठों, खाइयों, आदि में, जहाँ गोली-गोलों की पहुँच नहीं हो सकती, वह बेरोक घुसती चली जा सकती है। हमारे ऐसे देश में, जहाँ जनता ने अभी तक गैस-मास्क आदि रक्षा के साधन देखे तक नहीं हैं, वह विकराल संहारक प्रमाणित हो सकती है। तथापि, महायुद्ध में गैस द्वारा मृत और आहत सैनिकों की संख्याओं को देखते हुए यह कदापि नहीं कहा जा सकता कि अन्य अस्त्रों की अपेक्षा उसकी संहार-शक्ति अधिक है। गैस की संहारकता के संबंध में अनावश्यक भय बहुधा समाचार-पत्रों द्वारा सर्वसाधारण में फैलता है। जुलाई १९२७ में न्यूयार्क के एक अख़बार में यह शीर्षक मोटे-मोटे अक्षरों में निकला था—

एक टन मस्टर्ड गैस ४,५०,००,००० मनुष्यों को मार डालने के लिए

लेकिन युद्ध में मस्टर्ड गैस द्वारा केवल ८००० मनुष्यों की मृत्यु हुई थी, अर्थात् १॥ टन मस्टर्ड गैस केवल एक मृत्यु का कारण बन सकी थी। इससे आप हिसाब लगा सकते हैं कि समाचार-पत्रों के संवादों में बहुधा किस अनुपात में अतिशयोक्ति रहा करती है। हेग के प्रथम शांति-सम्मेलन में गैस-निषेधक प्रस्ताव का विरोध करके कैप्टेन महन ने, वास्तव में, दूरदर्शिता दिखाई थी; कारण, युद्ध में गैस द्वारा मृत व्यक्तियों की संख्याओं से यह स्पष्टतः प्रमाणित होता है कि अन्य अस्त्रों की अपेक्षा विषाक्त गैस कहीं कम प्राणनाशक है। अमेरिका के जनरल एमॉस ए० फ्राइज़ की रिपोर्ट के अनुसार १०० गैसाक्रांत व्यक्तियों में केवल ३ या ४ की ही मृत्यु हुई, किंतु विस्फोटकों द्वारा आहत सौ मनुष्यों में २० से २५ तक समाप्त हो गए। महायुद्ध के अंत में तो रक्षा के साधनों के विकास के कारण, गैसीय आक्रमणों का महत्त्व बहुत कुछ क्षीण हो चुका था। अक्टोबर और नवंबर के महीनों में पीछे हटते हुए जर्मनों ने आगे बढ़ते हुए ब्रिटिश दलों पर उन्हें रोकने के लिए ४००० टन विषाक्त गैसों को छोड़ा था, लेकिन केवल ५०० मनुष्य ही मरे थे। दूसरे शब्दों में, एक सैनिक को मारने के लिए आठ टन विषाक्त गैस का व्यय हुआ था। हाँ, गैस द्वारा मृत्यु अधिक छाद्मिक और क्लेशप्रद होती है। इस दृष्टि से इसका उपयोग अधिक अमानुषिक अवश्य है, मृत्यु-संख्या की दृष्टि से नहीं।

कहाँ से कहाँ!

मैंने किसी वृद्ध से सुना था कि ग़दर के समय में कुछ लोगों ने आग में लाल मिर्च झोंककर अपनी और अपने घरों की रक्षा की थी। प्राचीन योरप में गंधक जलाकर शत्रुओं को रोकना प्रचलित था। इन आद्य विधियों से चलकर मनुष्य विज्ञान द्वारा कितने भयंकर पदार्थों तक आ पहुँचा है! सर्वसाधारण को उपर्युक्त विषाक्त पदार्थों का रहस्य युद्ध के बाद ही खुल सका था। आजकल हम दूसरे संसारव्यापी युद्ध के मध्य में हैं। संभवतः कई नए पदार्थ—अब तक की 'गैसों' से कहीं अधिक विषाक्त और भयंकर—आविष्कृत कर लिये गए होंगे। यदि इनका उपयोग हुआ तो इनका भी भेद युद्ध समाप्त होने पर खुलेगा।

पृथ्वी की कहानी
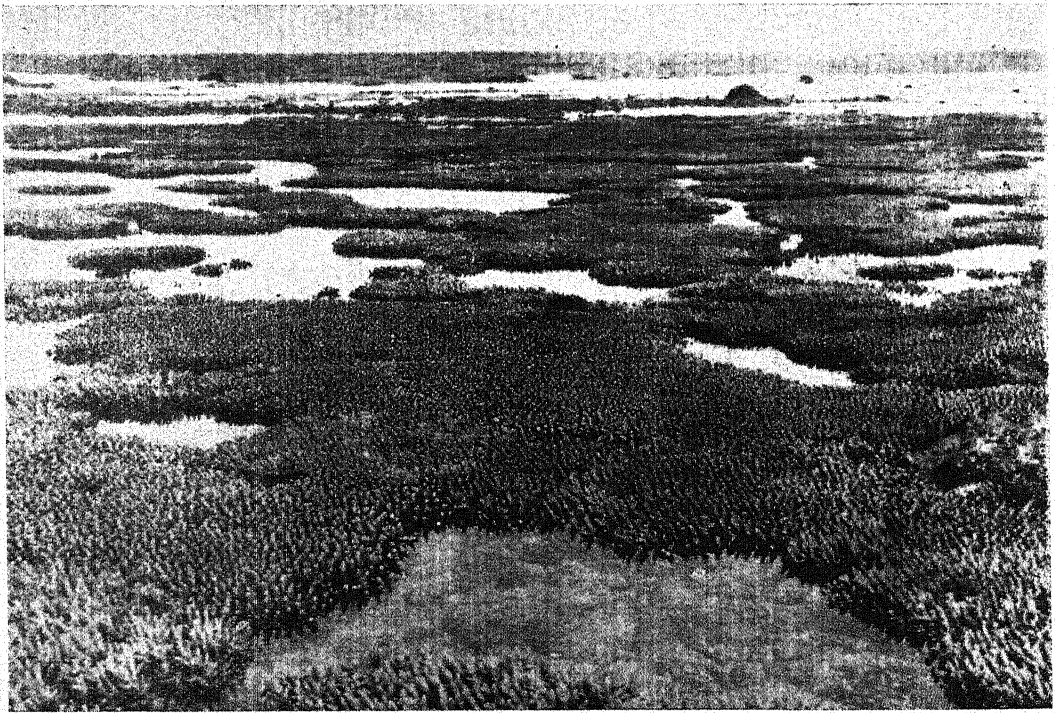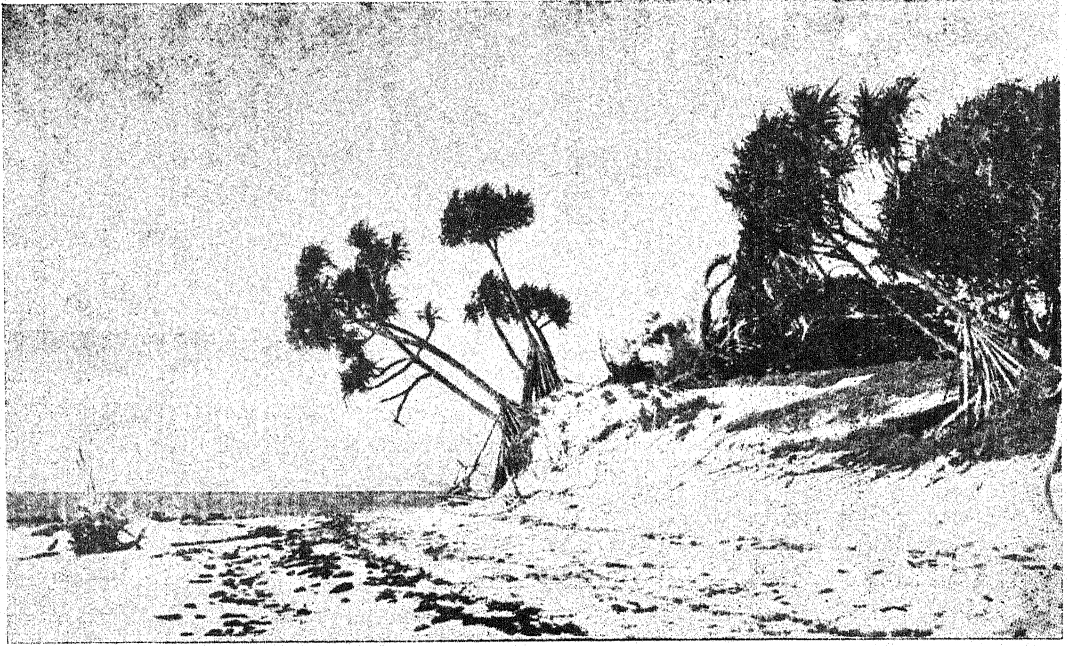
सागर द्वारा स्थल की रचना के कार्य में अनेक समुद्री जीवों का भी हाथ है। इनमें मूँगा या प्रवाल-जंतु प्रमुख हैं। इन नन्हें-नन्हें जीवों की टापूनुमा रचनाएँ कुल मिलाकर लगभग ५० लाख वर्गमील के क्षेत्रफल में फैली हुई हैं, जिनमें सबसे महत्त्वपूर्ण ऑस्ट्रेलिया के उत्तरी-पूर्वी तट के समानान्तर १२०० मील तक फैली हुई वह प्रवाल-श्रेणी है जो 'ग्रेट बैरियर रीफ़' कहलाती है। इस पृष्ठ के चित्रों में नीचे के चित्र में इसी अनोखी प्रवाल-श्रेणी के एक भाग का दृश्य है। प्रवाल-समूहों के बीच-बीच में सागर का पानी भी घिरा हुआ दिखाई दे रहा है। ऊपर के चित्र में इसी प्रवाल-श्रेणी में पाए जानेवाले मूँगे के कुछ विशाल द्वीपों में से एक का दृश्य है, जिस पर बड़े-बड़े वृक्ष भी उग आए हैं। यह ध्यान देने योग्य है कि ये टापू मूलतः मूँगे के जंतुओं द्वारा ही निर्मित किए गए थे।

सागर का रचनात्मक कार्य

सागर की तह में जमा होनेवाला पदार्थ

सागर की तरंगों और ज्वार-भाटा के वेग से सागर-तटवर्त्ती चट्टानों का विखण्डन और क्षय होने के कारण जो चूरचार बनती है वह तो सागर की तली में पहुँचती ही है, साथ ही स्थल की चट्टानों की छीलन की भी अपार राशि नदियों द्वारा सागर में प्रति दिन पहुँचती रहती है। इसका भी कुछ अंश तो जल के साथ बहता हुआ आता है और हमें बालू, बजरी-मिट्टी और कीचड़ के रूप में दिखाई पड़ता है, और कुछ अंश अदृश्य रूप में जल में घुला हुआ बहता रहता है। जल में घुले हुए पदार्थों में विशेषतः चूने की चट्टानों के अंश रहते हैं। इनमें कैल्शियम कार्बोनेट व कैल्शियम सल्फ़ेट प्रधान हैं।

नदी के मुहाने पर पहुँचते ही बालू-मिट्टी, कंकड़ और बजरी आदि चट्टानों की छीलन और चूरचार को सागर का जल अपनी तरंगों के वेग से बहाकर अधिक गहराई में ले जाने की चेष्टा में संलग्न हो जाता है। धरातल पर दौड़नेवाला शीघ्रगामी जल मोटे और महीन सभी कणों को एक साथ बहाकर सागर में ला पटकता है, परन्तु सागर का असीम जल गम्भीरता के साथ इस आनेवाली राशि को परखता है और फिर छोटे-बड़े, मोटे और महीन, व हलके और भारी कणों को उनके गुणों के अनुसार पृथक्-पृथक कर देने की भरसक चेष्टा करता है। जिस प्रकार सूप द्वारा अनाज के छोटे-बड़े
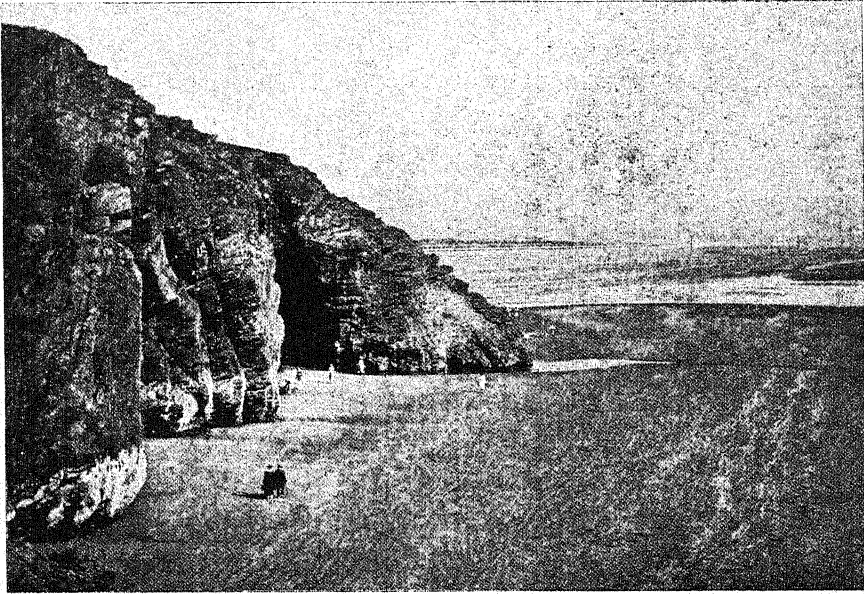
तटवर्त्ती चट्टानों का क्षय कर सागर की लहरें जो चूरचार बहा ले जाती हैं, वह बालू, बजरी, मिट्टी और कीचड़ के रूप में सागर-तल में, विशेषकर किनारे के छिछले भाग में, जमा होता रहता है, जिससे सागर की तट-रेखा दूर हटती जाती है। इस चित्र में भाटे के बाद दिखाई पड़नेवाली तटवर्त्ती बालू की एक पट्टी आप देख सकते हैं, जो सागर के रचनात्मक कार्य का एक नमूना है। ज्वार के समय इस पट्टी पर ८ फ़ीट गहरा पानी फैल जाता है।

दाने विभक्त हो जाते हैं, उसी प्रकार सागर की लहरें जल द्वारा बहाए गए पदार्थ के कणों का विभाजन करती रहती हैं। सागर में प्रति क्षण अनवरत रूप से स्थल का पदार्थ पहुँचता रहता है और लहरें भी निरन्तर ही अपना कार्य करती रहती हैं तथा आनेवाले पदार्थ को तली में जमा करती जाती हैं। ज्वार-भाटा के आने से जल में उथल-पुथल मच जाती है, जिससे तली में बैठते हुए कण अशान्त हो जाते हैं और बैठ नहीं पाते। परन्तु इस काल में नीचे बैठे हुए कणों की तली पर परत लग जाती है। जब जल फिर शान्त होता है, तब तली में दूसरी परत का पदार्थ एकत्रित होता है। इस प्रकार परत पर परत जमती जाती हैं। कालान्तर में यही परतें एक दूसरे पर सटकर ठोस रूप धारण कर लेती हैं और परतीली चट्टान कहलाती हैं।

स्थल से आए हुए पदार्थ को जमा करने के लिए सागर की तह में तीन कोषागार पृथक्-पृथक् हैं। इनमें से प्रत्येक की सीमा जल की गहराई के अनुसार निश्चित-सी है और प्रत्येक में जमा होनेवाले पदार्थ भिन्न-भिन्न हैं। सर्व-प्रथम कोषागार सागर का वह भाग है जो स्थल को छूता है और 'समुद्र-तट' कहलाता है। यह भाग ज्वार-जल के सर्वोच्च और भाटा के निम्नतम जल-चिह्नों के बीच का प्रदेश है। दिन में दो बार यह जल के बाहर धूप और वायु में झाँकने लगता है और दो बार ज्वार के जल के नीचे डुबकी लगा जाता है। समुद्र-तट के नीचा-ऊँचा होने तथा आगे-पीछे हटने से इसका क्षेत्रफल घटता-बढ़ता रहता है। दूसरा कोषागार तट के समीपवाले इस प्रदेश के बाद का 'छिछले जलवाला प्रदेश' है। इसकी सीमा निम्नतम जल-चिह्न से लेकर १०० पौरस गहरे जल तक होती है। इसके अनन्तर 'गहरे जलवाला प्रदेश' है, जो महाद्वीपीय ढाल से आरम्भ होकर सागर की महत्तम गह-राई तक फैला है।

समुद्र में बहकर आनेवाली राशि में विभिन्न प्रकार के पदार्थ रहते हैं। लहरों की क्रिया यह है कि इनमें से भिन्न-भिन्न प्रकार के पदार्थों को अलग-अलग करके भिन्न-भिन्न स्थलों में जमा करें। कौन-सा पदार्थ किस स्थान विशेष पर जमा होगा, यह कई बातों पर निर्भर है। स्थल की दूरी, तट के पास ही नदी के मुहाने का होना, तट के समीप सागर की तली की बनावट, तटवर्त्तीय चट्टानों की अवस्था तथा जल की गहराई आदि विशेष प्रभाव डालती हैं। यही कारण है कि भूमध्य तथा कैरीबियन सागर और मेक्सिको की खाड़ी सरीखे स्थल-आबद्ध गहरे समुद्रों की तली में जमा होनेवाले पदार्थ का स्थायी रूप खुले हुए समुद्रों की तली में जमा होनेवाले पदार्थों से सर्वथा भिन्न पाया जाता है। क्षीण अथवा नगण्य ज्वार-भाटा तथा लहरों की हीन शक्ति ही इसका कारण है। योरपीय उत्तरी सागर तथा हडसन की खाड़ी-सरीखे छिछले सागरों में, जो एक प्रकार से महाद्वीपीय निमग्न तट (Continental Shelf) के अन्तर्गत हैं, दूसरे ही प्रकार की परिस्थितियाँ उपस्थित होती हैं और फलस्वरूप उनकी तली में जमा होनेवाले पदार्थ का रूप भी दूसरा ही होता है।

तली में जमा होनेवाले पदार्थ पर जल के खारीपन की न्यूनता अथवा अधिकता का भी प्रभाव पड़ता है। बाल्टिक और काले सागर सरीखे जलखण्डों की तली में जमा होनेवाले पदार्थ की रचना अधिक खारी जलवाले जलखण्डों की तली में पाए जानेवाले पदार्थ से भिन्न है। स्थल से बहकर आनेवाले पदार्थ को जल की लहरें मोटे और महीन कणों के आकार के अनुसार विभक्त करती हैं। फलस्वरूप कणों की रासायनिक रचना के अनुसार उनका विभाजन हो जाता है। कारण यह है कि खनिज कणों का (जिससे यह पदार्थ बना होता है) मोटा और महीन होना उनकी बनावट पर निर्भर है, जो उनकी कठोरता तथा सापेक्षित घनत्व पर प्रभाव डालता है। बहुधा लहरों द्वारा कणों का विभाजन सर्वथा निर्दोष नहीं हो पाता। एक प्रकार के खनिज कणों में अन्य खनिज कण थोड़े-बहुत मिल ही जाते हैं। कहीं-कहीं विभिन्न कण सर्वथा अलग-अलग भी एकत्रित हो जाते हैं। ज्वार-भाटा के कारण कभी-कभी सर्वथा निर्दोष मोटे कणों की परत पर विभिन्न प्रकार के महीन कणों की परत जम जाती है। जब जल में अधिक काल तक उथल-पुथल नहीं होती तब पदार्थ तहों अथवा परतों के रूप में नहीं जमता वरन् उसकी चौड़ी दीवाल-सी बनती रहती है। परन्तु ऐसा सागर के तल के उसी प्रदेश में होता है, जहाँ किसी प्रकार की बाधा नहीं पड़ती और पदार्थ तेज़ी से सागर की तली में बैठता रहता है।

तट के समीप जमा होनेवाला पदार्थ

तट की बनावट के अनुसार ही किसी प्रदेश में जमा होने-वाले पदार्थ के कणों का आकार होता है। पथरीले तट के किनारे बहुधा पत्थरों के बड़े-बड़े ढोकों से लेकर बड़े-बड़े

रोड़े, कंकड़, मोटी बजरी, और बालू आदि बिछी रहती है। जहाँ पर तट अधिक ढालू होता है, वहाँ बहुधा बालू का अभाव होता है, क्योंकि सागर की ओर लौटती लहरों के साथ महीन कणोंवाला पदार्थ अधिक गहराई के तल में चला जाता है। परन्तु कहीं-कहीं पथरीले तट के किनारों पर भी बालू ही बिछी पाई जाती है और निचले सपाट तट पर तो सदैव ही बालू के ढेर देखने को मिलते हैं। इस प्रकार समुद्र-तट का किनारेवाला भाग अधिकतर बालू के कणों से ही ढका पाया जाता है। वहाँ भूमि खोदने पर बालू की तहें ही देखने को मिलती हैं। इस प्रदेश में पाई जानेवाली बजरी और कंकड़ की राशि बहुधा महाकठोर स्फटिक-कणों की बनी होती है। कोमल खनिज कण शीघ्र ही चूर-चूर होकर लहरों के साथ बह जाते हैं। कहीं-कहीं विशेष परिस्थितियों में तट के पास महीन मिट्टी भी जमा हो जाती है, परन्तु ऐसा यदा-कदा ही होता है।

सागर-तट का यह भाग अधिकतर स्थल और जल की सीमा को जोड़नेवाली एक सँकड़ी पट्टी के रूप में होता है। समस्त धरातल पर इस प्रकार की भूमि का क्षेत्रफल कुल ६२००० वर्गमील है। कहीं-कहीं पर इस पट्टी की चौड़ाई अधिक भी पाई जाती है। जहाँ तट का ढाल बहुत ही कम होता है, वहाँ बहुधा भाटा के समय बजरी से ढकी हुई दो या तीन मील चौड़ी भूमि जल के बाहर दिखाई पड़ती है।

इस प्रदेश से महीन बालूकण तथा बजरी और मिट्टी लहरों द्वारा छिछले जल-तल में पहुँचा दी जाती है। वहाँ पर यह तहों के रूप में तली में जमा होती रहती है। तट की रचना, जल-वायु तथा ज्वार-भाटा की लहरों का वेग छिछले जल की तली में जमा होनेवाले पदार्थ पर अपना प्रभाव डालते हैं। स्थल से आए हुए तथा तटवर्त्ती चट्टानों के विखण्डित कणों के अतिरिक्त छिछले जल की तली में कहीं-कहीं जीवों तथा जलोद्भिजों के अवशेष भी पाये जाते हैं। अनुकूल परिस्थितियों में जल-जीवों और शैवालादि जलोद्भिजों का जमाव बहुत
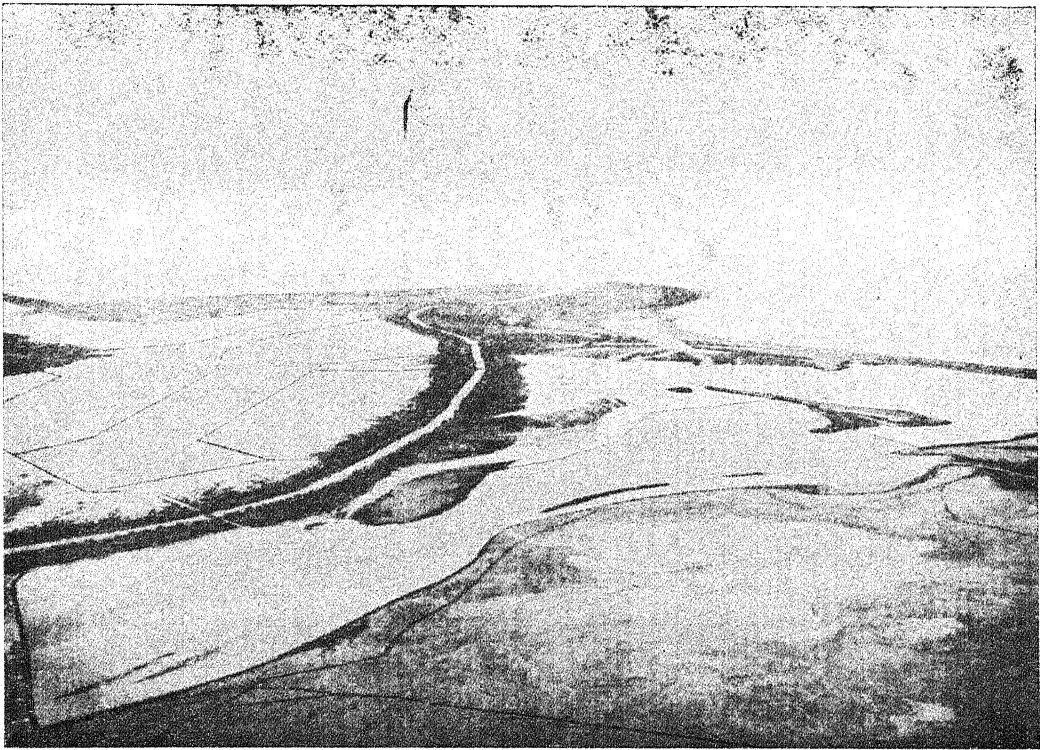
स्थल की चट्टानों की छीलन की अपार राशि नदियों द्वारा सागर में प्रति दिन पहुँचती रहती है। नदियों द्वारा बहाकर लाया गया बालू, मिट्टी, कंकड़-पत्थर आदि का ढेर उनके मुहानों पर जमा होता रहता है, और ज्वार-भाटे की क्रिया से वह सागर-तल में पहुँचता रहता है। इस प्रकार नदियाँ भी समुद्र को पाटने में मदद देती हैं। ऊपर एक ऐसे ही मुहाने का दृश्य है।

अधिक भी हो जाता है। इन जीवों के द्वारा सागर की तली में चूने के पदार्थ का क्षरण होता है। कालान्तर में यही चूने का पत्थर (Limestone) बन जाता है। इसमें जल-स्थित जीव-जन्तुओं के बाह्य अवशेष और ढाँचे समूचे के समूचे दब जाते हैं और चूने के पाषाण का रूप धारण कर लेते हैं। चूने के पाषाण का पदार्थ अधिकतर उन प्रदेशों में पाया जाता है जहाँ जल में जीवों और वनस्पतियों के योग्य भोजन प्रचुर मात्रा में मिल सकता है तथा जल इतना उष्ण रहता है कि उसमें ये जीव पनप सकें। उष्ण और शीतोष्ण कटिबन्धों में छिछले जल की तली पर इस प्रकार के जीवों द्वारा एकत्रित चूने के पाषाण के पदार्थ की तहें विशेषकर लगती पाई जाती हैं। सुदूर उत्तरीय शीतल जलप्रदेशों में भी इस प्रकार का पदार्थ छिछले जल की तह में जमा होता देखा गया है, परन्तु अधिक नहीं।

महाद्वीपीय निमग्न तट के छिछले जल की तह पर उन स्थानों में जहाँ जल उष्ण, स्वच्छ और स्थल की छीलन से अभिमुक्त रहता है, चूने के पाषाण के स्तर जमा होते हैं। चूने के पाषाण का पदार्थ, कुछ तो स्थल से बहकर आनेवाले जल में घुले हुए कैल्शियम सल्फ़ेट और कैल्शियम कार्बोनेट नामक लवणों के अवक्षेपण से मिलता है, और कुछ जलोद्भिजों और जल-जन्तुओं के अवशेषों से।

छिछले सागर की तली तथा गहरे जल की तली, दोनों ही स्थानों में असंख्य जीव पाए जाते हैं। इनमें से कुछ ऐसे हैं, जो विशेषकर छिछले जल की तली ही में रह सकते हैं और कुछ अत्यन्त गहरे जल की तली में। कुछ साधारणतः छिछले जल की तली के निवासी होते हुए भी गहरे जल की तली में भी पाए जाते हैं। कुछ जीव-जन्तु केवल गरम छिछले जल की तली में ही रह सकते हैं। स्वच्छ गरम छिछले जल-तल में पनपनेवाले जीवों में मूँगा या प्रवाल प्रमुख है। इसके द्वारा छिछले जल-तल में असंख्य द्वीपों की रचना होती है। इन द्वीपों को प्रवाल-द्वीप कहते हैं। प्रवाल-द्वीपों की रचना की कहानी अत्यन्त रोचक है। प्रवाल-शैल-श्रेणियाँ उष्ण और शीतोष्ण कटिबन्धों के सागर-जल में अनेकों द्वीपों को घेरे हुए पाई जाती हैं। समस्त प्रवाल-श्रेणियों का विस्तार लगभग ५०००००० वर्गमील है। लहरों द्वारा पहुँचाई गई क्षति के परिणामस्वरूप इन श्रेणियों के शैलखण्डों की जो चूरचार एकत्रित होती है वह सागर की तली में इससे भी अधिक विस्तृत क्षेत्र में फैली हुई है।

प्रवाल एक प्रकार का सूक्ष्मशरीरी, अनेकजातीय जल-जन्तु विशेष होता है। अपने शरीर के निचले भाग में यह चूने के पदार्थ का एक बाह्य आवरण अपने उद्भिज रस के निस्सरण से बनाता है। शीघ्र ही यह आवरण कठोर हो जाता है और प्रवाल-जन्तु इसके भीतर संरक्षित रूप में रहता है। जिस प्रकार पौधों में नये-नये अंकुर निकलते रहते हैं और इस प्रकार धीरे-धीरे पौधा बड़ा हो जाता है उसी प्रकार प्रवाल-जन्तु के बाह्य आवरण में भी नये-नये अंकुर निकलते हैं और उनके भीतर नवीन जन्तु अपने शरीरों को सुरक्षित रूप से बन्द किए रहते हैं। इस प्रकार एक प्रवाल-जन्तु के शरीर में अनेक जन्तुओं का विकास होता है और ये नए जन्तु भी नित्य नए जन्तुओं को जन्म देते रहते हैं। इस कारण प्रवाल का बाह्य आवरण छत्तों के रूप में बहुत बड़े आकार का हो जाता है, जिसमें असंख्य शाखाएँ निकलती रहती हैं। जैसे-जैसे प्रवाल का ढाँचा बढ़ता जाता है उसके पुराने जन्तु मरते जाते हैं। मरे हुए जीवों के ढाँचे नवीन प्रवाल-जन्तुओं के नीचे दबे रहते हैं तथा जल के बाहर निकले हुए प्रवाल-शरीरों के विखण्डन और क्षय से उत्पन्न चूरचार के तली में गिरने से वे ढकते जाते हैं। तली में संचित यह पदार्थ कालान्तर में श्वेत स्पंजयुक्त चूना-पाषाण का रूप धारण कर लेता है, जिसके ऊपर प्रवाल-जन्तु अपने नये-नये ढाँचे बनाते जाते हैं। प्रवाल का यह वृक्ष-सरीखा छत्ता बराबर बढ़ता ही रहता है। जब यह जल के बाहर झाँकने लगता है तब इसका ऊपर बढ़ना बन्द हो जाता है। प्रवाल-जन्तु जल के बाहर अधिक काल तक जीवित नहीं रह पाता है। इसलिए जब इसकी चोटी इतनी ऊँची हो जाती है कि मन्द-से-मन्द भाटे की लहरें इसको जल के बाहर कर दें तभी इसका बढ़ना बन्द हो जाता है। तब जल के नीचे-नीचे यह फैलने लगता है। ६८° फ० से कम तापक्रमवाले जल में प्रवाल-जन्तु जीवित नहीं रह पाता। अधिकतर प्रवाल उन्हीं स्थानों में पाये जाते हैं जहाँ जल की गहराई १५० फ़ीट से अधिक नहीं है और जल का ताप ६८° फ० से ऊपर है तथा पानी स्वच्छ है। नदियों के मुहाने के पास प्रवाल-श्रेणियाँ नहीं पाई जातीं, क्योंकि प्रवाल-जन्तु मीठे और गँदले जल में जीवित नहीं रह पाता।

जब प्रवाल-श्रेणियों की चोटी निम्नतम जल-तल से

थोड़ी ऊँची हो जाती है तब इस पर जलतरंगें चूने के महीन कण और पंक इकट्ठा करना आरम्भ कर देती हैं और श्रेणी-शिखर शीघ्र ही समतल चबूतरा या प्लेटफ़ार्म-सा बन जाता है, जिस पर निरन्तर बालूकण और महीन पंक-सरीखा पदार्थ जमा होने लगता है। इस प्रकार जल में स्थल का आरम्भ होने लगता है। लहरों के साथ बहकर जानेवाले नारियल आदि फलों के बीज यहाँ जमा हो जाते हैं और इन प्रवाल-श्रेणियों पर वृक्षों का जन्म हो जाता है, जिन पर पक्षी अपने घोंसले बना लेते हैं। कहीं-कहीं यह प्रवाल-श्रेणी स्थल से जुड़ जाती है और कहीं स्वतंत्र द्वीप के रूप में रहती है।

स्थिति और बनावट के अनुसार तीन प्रकार की प्रवाल-श्रेणियाँ देखने में आती हैं। एक तो वे हैं, जो तट से जुड़ी-सी रहती हैं। ये सीमान्तक प्रवाल-श्रेणियाँ (Fringing Coral Reefs) कहलाती हैं। बहुत-से प्रदेशों में इनका ऊपरी भाग तट से थोड़ी दूरी पर अलग दिखाई देता है और उनके बीच में छिछले पानी की खाई रहती है, जिसकी तली मूँगे की चट्टान की बनी होती है। दूसरी प्रवाल-श्रेणियाँ बाधक श्रेणियों (Barrier Reefs) के नाम से प्रसिद्ध हैं। ये तट के समानान्तर कुछ दूरी पर, गहरी और कहीं-कहीं विशेष चौड़ी खाई द्वारा तट से विभक्त होती हैं और तट की रक्षा करती प्रतीत होती हैं। कहीं-कहीं सीमान्तक श्रेणियाँ बाधक श्रेणियों का रूप धारण कर लेती हैं और कहीं बाधक श्रेणियाँ सीमान्तक श्रेणियों का।

उपरोक्त प्रकार की प्रवाल-श्रेणियों की लम्बाई कहीं-कहीं सैकड़ों मील तक पाई जाती है। क्यूबा के उत्तरी तट के समानान्तर तट की पूरी लम्बाई तक एक बड़ी प्रवाल-श्रेणी बनी है। हिन्द महासागर में न्यू कैलिडोनिया की प्रवाल-श्रेणी भी ४०० मील लम्बी है। ऑस्ट्रेलिया के उत्तरी-पूर्वी तट के समानान्तर बनी प्रवाल-श्रेणी सबसे अधिक महत्व की है। यह तट से कहीं २० और कहीं ८० मील की दूरी पर है। इसकी लम्बाई १२०० मील है! बीच में इसकी शृंखला कहीं-कहीं भंग हो गई है। इस श्रेणी की चौड़ाई १० से ९० मील तक है। कहीं-कहीं इसका सर्वोच्च भाग सागर की तली से १८०० फ़ीट ऊँचा तक पाया जाता है। इसका अधिकांश जलमग्न है, केवल कुछ अंश इधर-उधर जल के बाहर झाँकता प्रतीत होता है।

तीसरे प्रकार की वलयाकार प्रवाल-श्रेणियाँ (Atoll) होती हैं। इनके बीच में छिछले जल की झील होती है। प्रवाल-श्रेणी-आबद्ध जल का श्रेणियों के बीच पाये जानेवाले खुले अंशों द्वारा सागर के जल से सम्बन्ध होता है। इस प्रकार की वलयाकार श्रेणियों की रचना बड़ी रहस्यमय प्रतीत होती है। दक्षिणी पैसिफ़िक महासागर के द्वीप-समूह में इनकी बहुतायत है। इनकी रचना की रहस्यमयी उलझन को सुलझाने के लिए वैज्ञानिकों ने बहुत अध्ययन किया है। कुछ अटकल और कुछ वास्तविक अनुसन्धानों के बल पर भूतत्त्वविशारदों ने इनकी रचना के
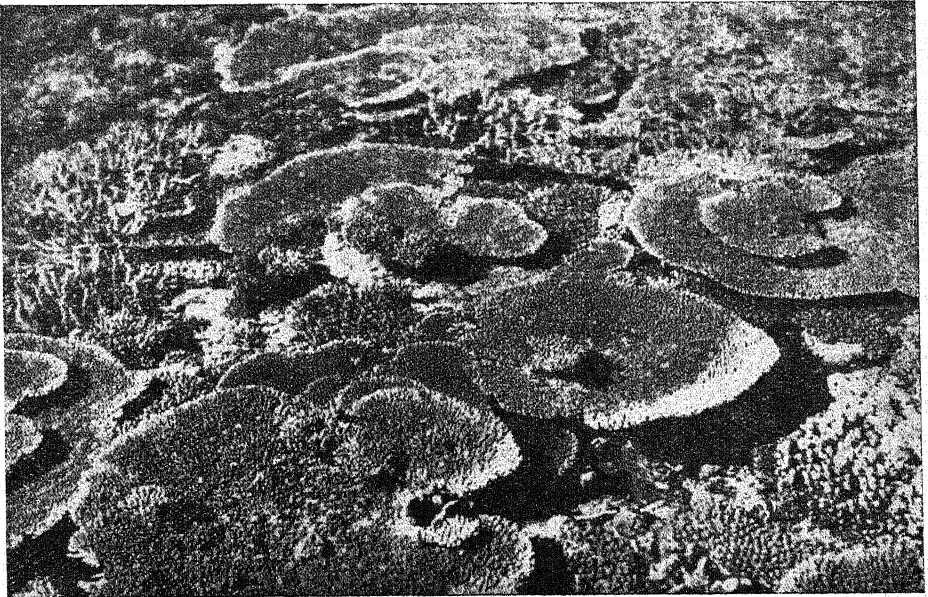
ऑस्ट्रेलिया की तटवर्ती बाधक प्रवाल-श्रेणी में पाए जानेवाले कुछ प्रवाल-समूहों का निकटवर्ती दृश्य। इसी प्रवाल-श्रेणी के अन्य चित्र पृ० १७७२ पर देखिए।

विषय में जो मत निर्धारित किए हैं वे हम नीचे देते हैं। यद्यपि ये सर्वमान्य नहीं हैं, तथापि अधिकांश लोग इनकी सत्यता पर विश्वास करते हैं। इनमें से कुछ सिद्धान्त अभी विवाद-ग्रस्त ही हैं।

सीमान्तक, बाधक और वलयाकार तीनों ही प्रकार की प्रवाल-श्रेणियों की बनावट एक ही प्रकार की है, केवल उनके आकार विभिन्न हैं। सीमान्तक और बाधक श्रेणियों के आकार भी मिलते-जुलते हैं, परन्तु वलयाकार श्रेणियों के घेरे को देखने से प्रतीत होता है कि यह किसी द्वीप के चारों ओर श्रेणी के रूप में रहा होगा और किसी समय द्वीप के जलमग्न हो जाने से श्रेणी के भीतर झील के समान सागर का जल बन्द हो गया है। सुप्रसिद्ध प्रकृतिवादी चार्ल्स डार्विन, डाना, और आधुनिक काल के डेविस नामक विद्वानों का यही सिद्धान्त है कि वलयाकार श्रेणियाँ एक समय अवश्य ही किसी ज्वालामुखी पर्वत की चोटी (जो जल में द्वीप के समान बनी होगी) के चारों ओर सीमान्तक और बाधक श्रेणियों के रूप में रही होंगी। सागर-जल-तल के ऊपर उठने अथवा द्वीप के नीचे धँसने से सीमान्तक श्रेणी का सम्बन्ध द्वीप-तट से भंग हो गया होगा और उसका रूप बाधक बन गया होगा। कालान्तर में जब जल-तल इतना ऊँचा हो गया कि उसने द्वीप-शिखर को अपने भीतर ढाँप लिया (द्वीप के नीचे धँस जाने से भी यही हुआ होगा) तो उसके चारों ओर बनी बाधक श्रेणियाँ तो जल-तल के साथ-साथ ऊँची होती गईं, परन्तु स्थल के नीचे हो जाने से उसके स्थान पर जलकुण्ड बन गया। वही श्रेणी जो द्वीप-तट पर बाधा के रूप में स्थित थी, अब इस जलकुण्ड को घेरे हुए वलय के रूप में दिखाई पड़ने लगती है। इस सिद्धान्त को मानने का अर्थ यह होता है कि जहाँ-जहाँ आजकल वलयाकार प्रवाल-श्रेणियाँ हैं, उन प्रदेशों की सागर की तली सैकड़ों फ़ीट नीचे धँस गई है और सम्भवतः आज भी धँस रही हो, क्योंकि प्रवाल-श्रेणियाँ जल के उपरी तल के साथ-साथ ऊँची होती जाती हैं।

डेली नामक विद्वान ने वलयाकार श्रेणियों की रचना के सम्बन्ध में दूसरा ही सिद्धान्त उपस्थित किया है। इस सिद्धान्त के अनुसार सागरस्थित द्वीप नीचे नहीं धँसे हैं। पृथ्वी के इतिहास में महान् हिमयुग के पूर्व केवल सीमान्तक श्रेणियों की ही रचना हुई थी, जो द्वीपों के तटों पर झालर के समान दिखाई पड़ती थी। हिमयुग के समय महाद्वीपों पर हिमावरण के कारण समस्त धरा-तल के सागर का जलतल लगभग २०० फ़ीट नीचा हो गया था (देखिए पृष्ठ १४४३)। इसके प्रभाव से असंख्य मूँगे के कीड़े जल के बाहर हो जाने से नष्ट हो गए तथा जल की शीतलता ने भी असंख्यों का नाश कर दिया। जिन द्वीपों के चारों ओर बाधक प्रवाल-श्रेणियाँ बनी हुई थीं वे पहले लहरों के क्षयात्मक प्रभाव से सुरक्षित थीं, क्योंकि बाधक श्रेणियाँ लहरों के वेग को रोक लेती थीं। प्रवाल-जन्तुओं के नष्ट हो जाने से तथा शीत के कारण इन श्रेणियों में नई वृद्धि के अभाव से लहरों की चोट सीधी अब द्वीप-तट पर पड़ने लगी। इन लहरों की चोट से द्वीप-तट की कठोर चट्टानों में गहरी-गहरी खाइयाँ बन गईं। कोमल और छोटी चट्टानें तो लहरों के भीषण प्रहार को सहन करने में अशक्त होने के कारण एकदम नष्ट हो गईं। जब हिमयुग का अन्त हो गया और सागरजल का ताप बढ़ गया तथा हिमावरण का जल बहकर सागर में पहुँचा तब फिर सागर का जल ऊँचा हो गया। खाइयों में जल भरने से प्रवाल-जन्तु उसमें आ गए और उन्होंने अपनी बस्तियाँ बसानी आरम्भ कर दीं तथा जलमग्न द्वीपों के चारों ओर अपनी पुरानी श्रेणियों को फिर ऊँचा कर लिया, जो वलयाकार रूप में आज भी दिखाई पड़ती हैं। इस मत के अनुसार हिमावरण के प्रभाव से नष्ट हो गए द्वीपों के चारों ओर पूर्वकालीन सीमान्तक श्रेणियाँ ही वलयाकार हो गई हैं।

इस प्रकार उपरोक्त दोनों ही सिद्धान्तों का तात्पर्य एक ही है कि वलयाकार श्रेणियों की रचना आरम्भ में सीमान्तक और बाधक श्रेणियों के रूप में हुई थी। कालान्तर में द्वीपों के अदृश्य हो जाने से (चाहे वे सागर-तल के धँस जाने से जलमग्न हो गए हों अथवा हिमयुग के प्रभाव से लहरों द्वारा विनष्ट होकर जलमग्न हो गए हों) इनका रूप वलयाकार हो गया। इस सिद्धान्त की सत्यता इस बात से और भी पुष्ट हो जाती है कि जिन द्वीपों को बाधक श्रेणियाँ घेरे हुए हैं, उनकी तट-रेखा धँसते हुए स्थल की सूचक है।

यद्यपि प्रवाल-जन्तुओं के खोल कठोर होते हैं तथापि लहरों की चोटों के आगे इनका भी भुरकुस निकल जाता है और इनका चूरा समुद्र की तह में बैठता जाता है, जिसके स्तर-के-स्तर समुद्र की तह में जमते जाते हैं। प्रवाल की चट्टानों के कण छोटे-छोटे बालूकणों से लेकर बड़े कंकड़ तक के बने होते हैं। इन छोटे-बड़े कणों को

आपस में बाँधने के लिए प्रवाल का महीन चूरा, जो पंक-सरीखा होता है, काम आता है। यह कोमल पंक इन कणों को आपस में उसी प्रकार बाँध देता है, जैसे 'सीमेंट' बालू और कंकड़ों को। अन्य असंख्य लघु जन्तु तथा जलोद्भिज भी इस बाँधने की क्रिया में तथा चूरचार उत्पन्न करने में सहायक होते हैं। जल में घुला कैल्शियम कार्बोनेट भी इस चूरचार के छिद्रों में भरकर उनको बाँधने में सहायक होता है। छिछले पानी के किनारे की ओर कहीं-कहीं एक विचित्र प्रकार के पत्थर की रचना होती है जो दानेदार चूना (Oolite) कहलाता है। यह देखने में मछली के असंख्य अंडसमूह-सा लगता है।

प्रवाल के अतिरिक्त अन्य जलजन्तुओं की ठठरियों के कणों से भी चूना-पाषाण की रचना होती है। इनमें फोरैमिनीफेरा, ब्रायोज़ोआ, ऐकिनोडर्मस, नलीपोर और क्रस्टीशिया नामक जन्तु और जलोद्भिज प्रधान हैं। इन जन्तुओं के असंख्य बाह्य आवरण चिकनी मिट्टी और पंक तथा महीन बालूकणों में दबे पाए जाते हैं। कहीं-कहीं छिछले जल की तह इन्हीं के मृत अवशेषों से भरी रहती है। लहरों के वेग से वे चूरचार हो जाते हैं और इनकी महीन बालू बन जाती है जो शान्त तली में पतले स्तर के रूप में जम जाती है।

गहरे जलतल में जमा होनेवाला पदार्थ

मरे और केनार्ड नामक विद्वानों के मतानुसार गहरा जल १०० पोरस या फ़ादम की गहराई के अनन्तर आरम्भ होता है। महाद्वीपीय निमग्न तट तो छिछले पानी के प्रदेश में आता है, परन्तु इसके आगे जहाँ महाद्वीपीय ढाल (Continental Slope) आरम्भ होता है, वहीं से गहरे जल का प्रदेश आरम्भ होता है। गहरे जल की तह में गहराई के कारण लहरों का तनिक भी प्रभाव नहीं पड़ता। इस कारण स्थल से बहकर आए हुए पदार्थ का केवल वही अंश जो अति सूक्ष्म कणोंवाला है, यहाँ पर आ पाता है। यह पदार्थ कोमल पंक (Oozes) के रूप में जमा होता है। पंक बहुधा अधिक गहराई की तह में जमा पाया जाता है और धरातलीय पदार्थ (वह पदार्थ जो स्थल से बहकर आया है) ज्वालामुखी धूल तथा सागर के जलतल पर रहनेवाले असंख्य आदिजीवों की ठठरियों के कणों से मिलकर बना होता है। जिस पंक में जीवों की ठठरियों के कणों की बहुतायत होती है वह चूने का पंक (Calcarious Mud) कहलाता है और जिसमें ज्वालामुखी धूल की अधिकता होती है वह ज्वालामुखीय पंक (Volcanic Mud) कहलाता है। धरातल से बहकर आया हुआ पदार्थ स्थलीय कहलाता है। विभिन्न गहराइयों में इन पंकों के रंगों में विभिन्नता पाई जाती है। नील पंक, हरित पंक और लाल पंक इनमें विशेष उल्लेखनीय हैं।

नील पंक समुद्र की तह में पाए जानेवाले सूक्ष्मकणीय पदार्थों में सबसे अधिक विस्तृत है। इसका विस्तार लगभग १४५०००,०० वर्गमील के क्षेत्रफल में है। लगभग सभी समुद्रतटों के आगे की गहराई की तह की एक सँकड़ी पट्टी नील पंक से ढकी पाई जाती है। आर्कटिक और भूमध्य सागर सरीखे बन्द सागरों की तह में यही पंक बिछा है। यह १२५ पोरसों की गहराई की तह से लेकर २८०० पोरस की गहराई की तह तक पाया जाता है। अधिक गहराई की तह में यह नहीं मिलता।
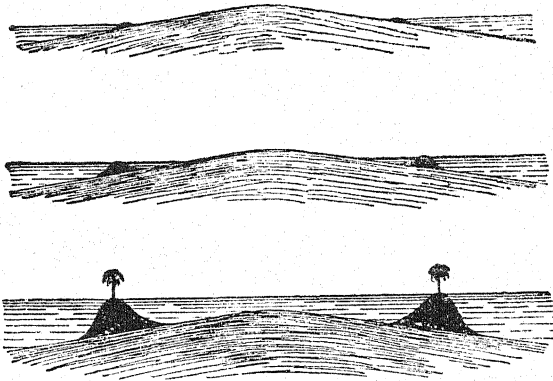
प्रवाल-द्वीपों की रचना किस प्रकार होती है

चार्ल्स डार्विन के अनुसार प्रवाल-द्वीपों की रचना निम्न प्रकार हुई होगी। पहले ज्वालामुखीय चट्टानों का कोई अंश समुद्र-जल में से ऊपर उठ आया होगा। तदनंतर इस नवनिर्मित द्वीप पर प्रवाल-जंतुओं ने वलयाकार प्रवाल-श्रेणी बनाना शुरू किया होगा। द्वीप के अधिकांश भूभाग के पुनः धँसकर जलमग्न हो जाने से प्रवाल-श्रेणी तथा द्वीप के बचे हुए भाग के बीच छिछला सागर का जल बद्ध हो गया होगा। इस प्रकार बाधक-श्रेणी बनी होगी। इस बीच प्रवाल-श्रेणी का क्रमशः ऊपर उठने का क्रम जारी रहा होगा। तब पुन: धँसाव के कारण द्वीप का लोप हो गया होगा और केवल प्रवाल की वलयाकार झालर के अंश अटॉल (Atoll) के रूप में यहाँ-वहाँ बच रहे होंगे। ऊपर के तीन चित्रों में मूँगे के द्वीप का क्रमिक विकास प्रदर्शित है। कालान्तर में महासागर से घिरे हुए इन एकाकी मूँगे के टापुओं पर वृक्ष आदि भी उत्पन्न हो जाते हैं, जिससे अद्भुत दृश्य प्रस्तुत हो जाता है।

इसके नीले रंग का प्रधान कारण इसमें पाए जानेवाले लोहे के गंधकीय खनिज कणों की प्रचुरता है।

लाल पंक विशेषकर ब्रेज़िल के अटलांटिक तट पर तथा चीन के पीले सागर में पाया जाता है। यह बहुधा गरम प्रदेशों में अधिक होता है। इसका लाल रंग गेरू के कारण होता है, जिसके कण इसमें बहुत अधिक रहते हैं। इस पंक में 'फ़ौरैमिनीफ़ेरा' नामक आदिजीव की ठठरियाँ विशेष पाई जाती हैं।

चूने के पदार्थ का पंक अधिकतर प्रवाल एवं अन्य जन्तुओं तथा वनस्पतियों के कठोर खोलों के घिसने, टूटने और पिसने से बनता है। इनके सूक्ष्म कण गहरे जल की तह की ओर बह जाते हैं। परन्तु यह बहुधा उन्हीं प्रदेशों में पाया जाता है, जहाँ इस प्रकार के जीव प्रचुर होते हैं।

ज्वालामुखी पंक बहुधा उन गहरे समुद्रों की तली में जमा होता पाया गया है, जिनके आसपास ज्वालामुखी पर्वत तथा द्वीप हैं। ज्वालामुखी की राख समुद्र के जल में गिरती है और धीरे-धीरे बैठती हुई उन स्थानों पर जमा हो जाती है, जहाँ तह में लहरों का प्रभाव नहीं होता।

फ़ौरैमिनीफ़ेरा नामक आदि-जीव के अतिरिक्त रेडियोलेरिया (Radiolaria) नामक जीव तथा डायटम (Diatom) नामक उद्भिज आदि भी सागर की तह में चूने का पंक जमा करते रहते हैं। ये जीव जलतल पर सहस्रों की संख्या में हर घड़ी मरते रहते हैं और मृत शरीरों की कड़े चूने-पत्थर की ठठरियाँ सागरों की तह में गिरती रहती हैं। ये जीव इतने शीघ्र जन्मते और मरते हैं कि इनके मृत शरीरों के गिरने से ऐसा प्रतीत होता है जैसे ठंडे प्रदेशों में तुषारपात होता है। सागरों की गहरी तहों में दब और गलकर इनकी ठठरियाँ खड़िया मिट्टी में परिणत हो जाती हैं।
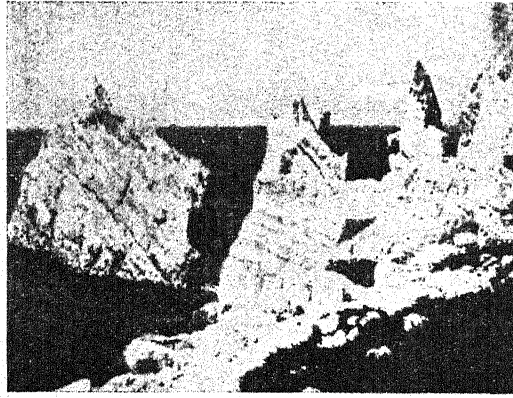
खड़िया पाषाण की चट्टानें

इस फ़ोटो में दिखाई दे रही चट्टानें खड़िया मिट्टी (Chalk) की चट्टानें हैं। ये चट्टानें किसी सुदूर अतीतकाल में जलाशय की तलहटी में जल के द्वारा लाई हुई बालू, मिट्टी, पत्थर आदि के कणों की तलछट तथा अति सूक्ष्म शरीरी जलचरों के अवशेषों के मिश्रण से बनी है। समुद्र के जल की सतह के ऊँचे-नीचे हो जाने के कारण ही ये चट्टानें पर्वतरूप में ऊपर उठी हुई दिखाई दे रही हैं।

लाल मिट्टी-सरीखा असीम गहराई के जल की तह में पाया जानेवाला पदार्थ अनन्त काल पूर्व स्थल से आया हुआ है। इसका कुछ अंश तो ज्वालामुखी की राख के ही विश्लेषण से उत्पन्न हुआ है और कुछ जल में घुले पदार्थों के जीवों और जन्तुओं द्वारा परिवर्त्तित किये गए पदार्थ से। असीम गहराई के जल की तह में सीधा स्थल से आया हुआ पदार्थ बहुत ही कम पाया जाता है। केवल अफ्रीका के पश्चिमी तट पर सहारा के मरुस्थल से वायु के द्वारा उड़ाकर लाई गई रेत जल की तह में गिरकर जमा हो गई है, परन्तु यहाँ पर गहरा समुद्र स्थल के एकदम पास ही आरम्भ हो जाता है। अधिकांश प्रदेशों में अधिक गहरे जल की तह में मिट्टी ही जमा होती पायी जाती है। लाल मिट्टी से ढकी तली का क्षेत्रफल लगभग ५१५०-०००० वर्ग मील है। इसका $\frac{४}{५}$ भाग प्रशान्त महासागर में है।

असीम गहराई की तह में जमा होनेवाले पंक (Oozes) यह सिद्ध करते हैं कि हमारी पृथ्वी पर समुद्र के ये भाग अनन्त काल से स्थिर हैं। हम देखते हैं कि तट पर जमा होनेवाले पदार्थ तथा छिछले जल की तह में जमा होनेवाले पदार्थ कालान्तर में कड़ी चट्टानों में परिणत हो जाते हैं, जो धरातल पर पाई जानेवाली परतीली चट्टानों से एकदम मिलती-जुलती हैं। इससे यह सिद्ध होता है कि स्थल की इन परतीली चट्टानों का जन्म सागर के छिछले जल की तह में हुआ होगा और छिछले जल की तह के ऊपर उठ आने से ये चट्टानें स्थल की चट्टानें बन गई होंगी। परन्तु हम कहीं भी गहरे जल की तह में पाए जानेवाले पंक की भाँति पदार्थ की बनी चट्टानें नहीं पाते। इसका अर्थ तो यही होता है कि अनन्त काल से गहरे जल की तली में कोई परिवर्त्तन नहीं हुआ है।
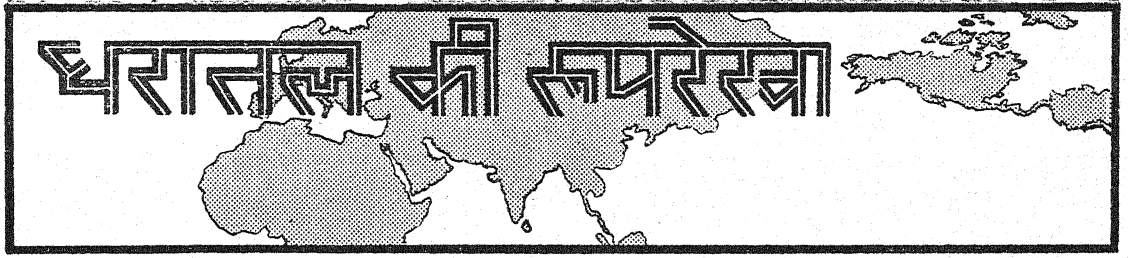
मौसम और जलवायु

२—धरातल पर चलनेवाली हवाएँ कहाँ से आती हैं और क्यों?

तिजारती हवा, पछुआ, मानसून और चक्रवात आदि की कहानी

पिछले प्रकरण में 'मौसम और जलवायु' के अध्ययन के सिलसिले में हमने धरातल के विभिन्न प्रदेशों के तापक्रम का निदर्शन किया था और उसी क्रम में समवायु-भार के भिन्न-भिन्न कटिबंधों की भी जानकारी प्राप्त की थी। हम देख चुके हैं कि वायुमण्डल परिवर्त्तनशील तथा अस्थिर है एवं धरातल के मौसम और जलवायु के निर्माण में उसका गहरा हाथ है। भूमण्डल पर सदैव वायु की अनेक धाराएँ स्थायी या अस्थायी रूप से बहती रहती हैं और इस प्रकार विविध महत्त्वपूर्ण उलटफेर किया करती हैं। उदाहरणार्थ, भारतवर्ष में वर्षा का सारा दारमदार 'मानसून' नामक मौसमी हवाओं पर है। अतएव इन वायु-धाराओं का न केवल भूतत्विक महत्त्व ही है, प्रत्युत् मानव-जीवन से एकदम सीधा संबंध है। तो फिर आइए, इन महत्त्वपूर्ण हवाओं के रूप और प्रवाह-मार्ग के संबंध में कुछ विस्तृत जानकारी प्राप्त करें।

वायुमण्डल का वह अंश जो धरातल के सन्निकट है चंचल और अस्थिर है। वह धरातल के साथ-साथ गरम होता है और धरातल के ठण्डा होने से ठण्डा। धरातल का जो प्रदेश अधिक गरम हो जाता है उसके पास की वायु भी अधिक गरम हो जाती है। वायु अधिक गरम होने से फैलती है और फैलने से उसका भार कम हो जाता है। हल्की हो जाने से वायु ऊपर उठने लगती है और उसके स्थान पर आस-पास की ठण्डी और अधिक भारवाली वायु आ जाती है। इसी को इस प्रकार भी कह सकते हैं कि जब वायु गरम होकर फैलने लगती है तो उसके हल्केपन के कारण आस-पास की ठण्डी और भारी वायु अधिक दबाव डालकर उसे ऊपर उठाकर आप उसके स्थान पर पहुँच जाती है। उसके वहाँ पहुँचते-ही धरातल की गरमी उसको भी शीघ्र ही गरम कर देती है और उसको भी ऊपर उठ जाना पड़ता है। ठण्डे प्रदेशों से और भारी वायु उसके स्थान पर आती है। इस प्रकार वायु के आने और ऊपर उठने का चक्र बराबर चलता रहता है। गरम प्रदेश की ओर ठण्डी वायु की धारा आती रहती है और गरम होकर ऊपर उठती रहती है। ऊपर उठकर यह वायु विलुप्त नहीं हो जाती वरन् अधिक ऊँचाई पर पहुँचते-पहुँचते यह फिर ठण्डी हो जाती है और ठण्डी होकर संकुचित होने से भारी हो जाती है जिससे उसको धरातल पर लौटना पड़ता है। परन्तु लौटकर यह उसी स्थान पर नहीं पहुँचती जहाँ से ऊपर उठी थी वरन् उसके आस-पास के प्रदेश पर उतरती है और नीचे की धरातलीय वायु को दबाती हुई लघु-भार प्रदेश की ओर बहा देती है।

समुद्र-तट के निकट वायु के चलने की दिशा दिन और रात में भिन्न रहती है। समुद्र-तट के निकट १०-१५ मील तक वायु की दिशा में दिन और रात में परिवर्त्तन होता रहता है। दिन में पवन के झोंके समुद्र की ओर से आते हैं परन्तु रात में स्थल की ओर से समुद्र की ओर हवा चलती है। इन हवाओं का नाम उस दिशा के अनुसार पड़ गया है, जिस ओर वे चलती हैं। समुद्र-तट पर दिन में चलनेवाली हवा समुद्री हवा कहलाती है और रात में चलनेवाली स्थल पवन।

स्थल और समुद्री पवन के चलने का कारण यह है कि स्थल जल की अपेक्षा शीघ्र गरम होता है। दिन में सूर्य की किरणें स्थल को समुद्र की अपेक्षा अधिक गरम कर देती हैं। इससे स्थल के ऊपर वायु का भार

समुद्र की अपेक्षा कम हो जाता है और जल की ओर से समुद्री हवा स्थल की ओर चलने लगती है। रात में शीत पड़ने के कारण स्थल की अपेक्षा जल देर में ठण्डा हो पाता है। फलस्वरूप समुद्री वायु की अपेक्षा स्थल की वायु अधिक ठण्डी होती है और इसी कारण रात में हवा का प्रवाह स्थल से समुद्र की ओर होता है।

धरातल पर भी हवाओं का चक्र लगभग इसी प्रकार उच्चभार प्रदेशों से लघुभार प्रदेशों की ओर चलता रहता है। परन्तु धरातल के विभिन्न प्रदेशों में बहनेवाली हवाओं की दिशा में समुद्री पवन की भाँति रात और दिन में भिन्नता नहीं होती। ये हवाएँ स्थायी होती हैं। केवल ऋतु-परिवर्त्तन के साथ-साथ इनके प्रवाहक्षेत्र में थोड़ा-बहुत अन्तर पड़ जाता है। हमारे कहने का यह तात्पर्य नहीं है कि धरातल पर ऐसी हवाएँ हैं ही नहीं जिनकी स्थिति और दिशा बिल्कुल अनिश्चित है। परन्तु धरातल के अधिकांश भागों में स्थाई हवाएँ ही चलती हैं।

धरातल पर भूमध्य रेखा के आसपास सूर्य की गर्मी उत्तरीय और दक्षिणीय अक्षांशों की अपेक्षा अधिक पड़ती है। इस कारण भूमध्यरेखा के ऊपर की वायु अधिक गरम होकर ऊपर उठती है और ऊपर की वायु का प्रवाह ध्रुवों की दिशा में होता है, क्योंकि ध्रुवों पर अधिक ठण्डा होने से वहाँ की वायु संकुचित होती है। ऊपर की वायु का प्रवाह ध्रुव प्रदेशों की ओर होने से भूमध्य रेखा तथा अत्युष्ण कटिबन्ध के अक्षांशों पर वायुभार कम हो जाता है। इस प्रकार अत्युष्ण कटिबन्ध में लघुभार-प्रदेश के उत्पन्न होने से उसके उत्तरीय और दक्षिणीय अक्षांशों की ओर से ठण्डी और अधिक भारवाली वायु चलने लगती हैं। इस प्रकार साधारण अवस्था में वायु का प्रवाह शीतोष्ण कटिबन्धों की ओर से भूमध्य प्रदेश की ओर हुआ करता है।

भूमध्य प्रदेश के ऊपर उठी हुई वायु अधिक ऊँचाई पर पहुँचकर ठण्डी हो जाती है और सिकुड़ने लगती है। इस कारण उसका भार बढ़ जाता है। भार बढ़ जाने से उसको फिर नीचे उतरना पड़ता है। परन्तु नीचे उतरते समय यह वायु लौटकर उसी स्थान पर नहीं पहुँचती जहाँ से ऊपर उठी थी, वरन् उसके उत्तर और दक्षिण में कर्क और मकर रेखाओं के समीप यह वायु धरातलीय वायु बन जाती है।

भूमध्य रेखा के उत्तर और दक्षिण में जिन प्रदेशों पर वायु ऊपर से नीचे आती है, वहाँ उच्चभार-प्रदेशों की रचना होती है, क्योंकि ऊपर से आनेवाली वायु का भार धरातलीय वायु से कहीं अधिक होता है। इन उच्चभार-प्रदेशों से वायु का प्रवाह इनके उत्तर और दक्षिण अर्थात् ध्रुव तथा भूमध्य रेखा दोनों ही ओर होता है, क्योंकि इन प्रदेशों के दोनों ओर ही लघुभार-प्रदेश हो जाते हैं। इस प्रकार शीतोष्ण कटिबन्ध से भूमध्य की ओर आनेवाली वायु भूमध्य रेखा पर ऊपर उठकर फिर कर्क और मकर रेखाओं के पास धरातल पर पहुँच जाती है और इसी चक्र में चलती रहती है।

कर्क और मकर रेखाओं के पास उत्पन्न उच्चभार-प्रदेशों से वायु का प्रवाह ध्रुव-प्रदेशों की दिशा में होता है। शीतोष्ण कटिबन्धों में ये ही हवाएँ चला करती हैं। शीतोष्ण कटिबन्धों के आगे ध्रुवों के पास शीत कटिबन्धों में उच्चभार रहता है। इस कारण शीतोष्ण कटिबन्धों की वायु ध्रुवों तक नहीं पहुँचती वरन् ध्रुवों की ओर से ठण्डी वायु शीतोष्ण कटिबन्धों की ओर चलती है। जिस प्रदेश पर ये ठण्डी हवाएँ शीतोष्ण कटिबन्ध की वायु से मिलती हैं वहाँ दोनों ऊपर की ओर उठने लगती हैं और ऊपर जाकर एक अंश शीतोष्ण कटिबन्ध की ओर और दूसरा ध्रुव की ओर बह जाता है। ध्रुव की ओर जानेवाला अंश ध्रुव पर पहुँचकर गतिहीन होकर फिर धरातल पर आ जाता है और शीतोष्ण कटिबन्धों की ओर जाने-वाला अंश अयन रेखाओं पर धरातलीय वायु बन जाता है।

इस प्रकार धरातल पर लघुभार और उच्चभार के कई कटिबन्ध बन जाते हैं। ये 'लघुवायुभार' और 'उच्चवायु-भार' धरातल के चारों ओर फैले हैं। भूमध्य रेखा और उष्ण कटिबन्ध को लघुभार का स्थायी कटिबन्ध घेरे है। इसके उत्तर और दक्षिण में प्रत्येक ओर उच्चभार कटिबन्ध हैं और इस उच्चभार के आगे, ध्रुवों की ओर चलने पर, शीतोष्ण कटिबन्धों के लघुभार-प्रदेश हैं। ध्रुवों पर फिर उच्चभार रहता है।

भूमध्य रेखा पर, जहाँ वायु अधिक गरम होकर ऊपर उठती है, वायु का प्रवाह धरातल की ओर न होकर आकाश की ओर होता है। इस प्रदेश पर धरातलीय वायु का सर्वथा अभाव है। इसी प्रकार कर्क और मकर रेखाओं के निकट, जहाँ ऊपर की वायु धरातल पर उतरती है, धरातलीय वायु नहीं चलती। इन प्रदेशों को, जहाँ धरातलीय वायु का अभाव है, 'शान्तप्रदेश' (Calms) कहते हैं। उपरोक्त भूमध्य और अयन रेखाओंवाले
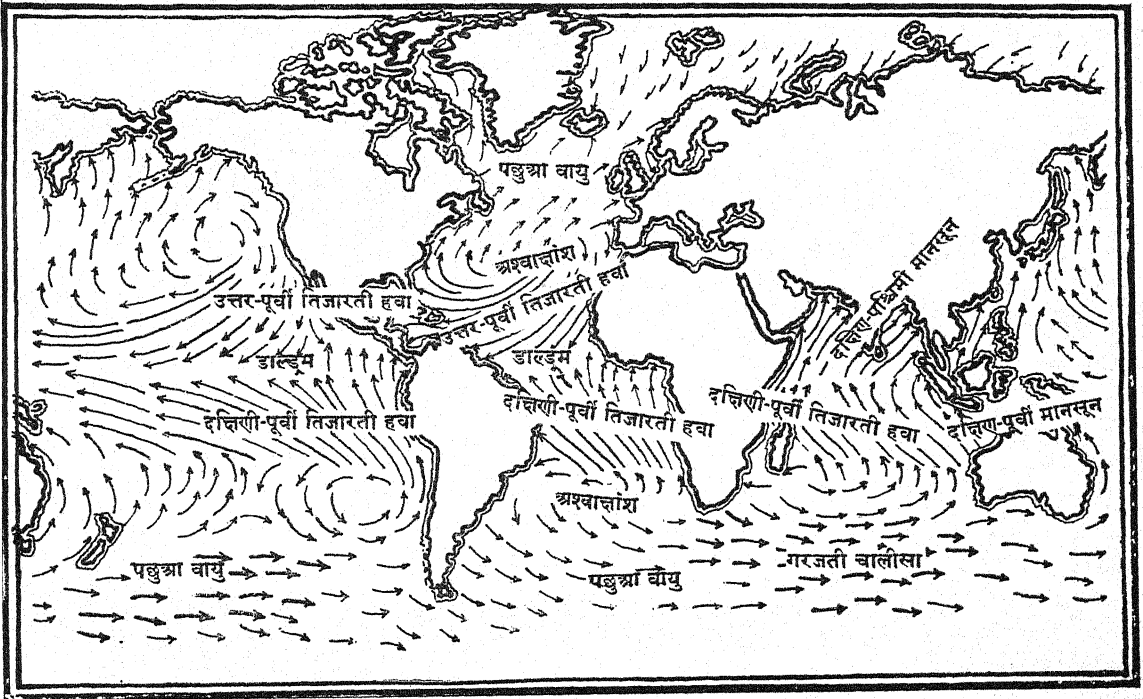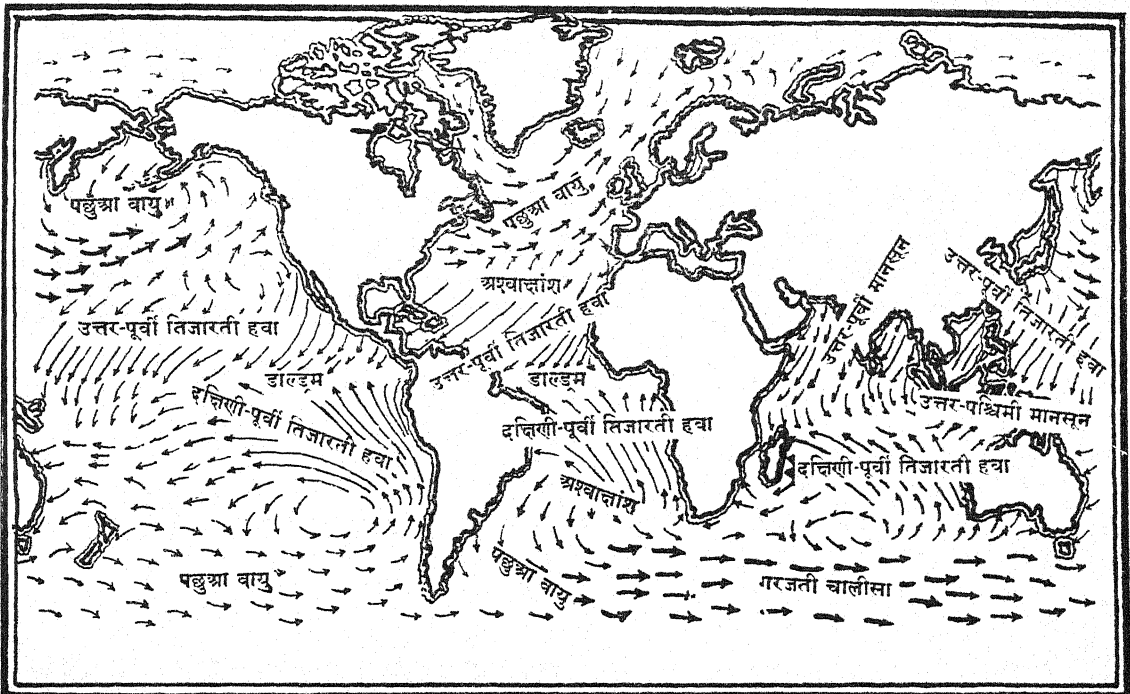
धरातल पर चलनेवाली मुख्य-मुख्य हवाएँ और उनके मार्ग

ऊपर के मानचित्र में जनवरी में (अर्थात् शीतकाल में) हवाओं की गति का निर्देश किया गया है, नीचे जुलाई के महीने में (अर्थात् ग्रीष्म काल में) हवाओं का रुख़ दिखाया गया है। हमारे देश में जून-जुलाई में समुद्र की ओर से स्थल की ओर बहनेवाली दक्षिणी-पश्चिमी मानसून नामक हवा से ही अधिकतर वर्षा होती है। नक़्शे में दिखाई गई हवाओं का विशेष परिचय पाने के लिए लेख पढ़िए।

'शान्तप्रदेशों' के अतिरिक्त ध्रुवों के निकट भी ऐसे शान्त-प्रदेश हैं। ये शान्तप्रदेश धरातल पर स्थायी रूप से पाए जाते हैं। परन्तु सूर्य के उत्तरायण और दक्षिणायन होने से इनके क्षेत्र उत्तर और दक्षिण की ओर हट जाते हैं अर्थात् ताप सम्बन्धी भूमध्य रेखा धरातलीय (भौगोलिक) भूमध्य रेखा से सम्बन्धित न होकर सूर्य की स्थिति से सम्बन्धित है। भूमध्यीय शान्तप्रदेश (Equatorial Calms) का केन्द्र सदैव ही ताप सम्बन्धी भूमध्य रेखा के समीप रहता है।

वायुभार के भेद के अनुसार शीतोष्ण कटिबन्धों की ओर से वायु का प्रवाह भूमध्य की ओर होता है। अब यदि पृथ्वी स्थिर होती और एक ही अक्षांश के स्थल और जल प्रदेशों के गरम होने में असमानता न होती तो वायु का प्रवाह सदैव देशान्तर रेखाओं के समानान्तर उत्तर-दक्षिण दिशा में होता। उत्तरीय गोलार्द्ध में दक्षिण की ओर पवन चलती और दक्षिणीय गोलार्द्ध में उत्तर की ओर। परन्तु पृथ्वी के आवर्त्तन के कारण इन हवाओं की दिशा में अन्तर पड़ जाता है। इस सम्बन्ध में जो नियम है उसे फेरल का सिद्धान्त (Ferrel's Law) कहते हैं। इस सिद्धान्त के अनुसार पृथ्वी की सभी मुक्त चलित वस्तुएँ पृथ्वी के आवर्त्तन के कारण उत्तर-दक्षिण की ओर चलने में अपने पथ से एक ओर को झुक जाती हैं। उत्तरीय गोलार्द्ध में यह झुकाव उनके दाहिनी ओर और दक्षिणीय गोलार्द्ध में बाईं ओर को रहता है। इस सिद्धान्त के अन्वेषक फेरल महोदय एक अमेरिकन अध्यापक थे। इस सिद्धान्त की जाँच पश्चिम से पूर्व की ओर तेज़ी से घूमते हुए ग्लोब पर खड़िया से उत्तरीय ध्रुव से लेकर दक्षिणीय ध्रुव तक एक लकीर खींचकर की जा सकती है। यह लकीर उत्तरीय गोलार्द्ध में दाहिनी ओर और दक्षिणीय गोलार्द्ध में बाईं ओर को मुड़ जायगी। घूमते हुए ग्लोब पर पानी छोड़ने से वह भी उत्तरीय गोलार्द्ध में दाहिनी ओर और दक्षिणीय गोलार्द्ध में बाईं ओर को बहता है।

यदि पृथ्वी अपनी धुरी पर न घूमती होती तो हवाएँ किस प्रकार बहतीं, इसकी कल्पना।

इस प्रकार उत्तरीय गोलार्द्ध में ध्रुव से भूमध्य की ओर अथवा भूमध्य से ध्रुव की ओर चलनेवाली हवाएँ अपने पथ से विचलित होकर दाहिनी ओर को मुड़ जाती हैं, और दक्षिणीय गोलार्द्ध में इसी प्रकार हवाओं का झुकाव बाईं ओर को होता है। शीतोष्ण कटिबन्धों के उच्चभार-प्रदेशों से जो हवाएँ भूमध्य के लघुभार-प्रदेश की ओर चलती हैं वे उत्तरीय गोलार्द्ध में 'उत्तरीय-पूर्वीय' हवाएँ और दक्षिणीय गोलार्द्ध में 'दक्षिणीय-पूर्वीय' हवाएँ कहलाती हैं [जिस दिशा से हवा चलती है उसी के अनुसार उसका नाम पड़ता है परंतु समुद्री धारा जिस ओर को चलती है उसके अनुसार उसका नाम पड़ता है]। ये उत्तरीय और दक्षिणीय-पूर्वीय हवाएँ स्थायी और निरंतर चलती रहती हैं। इस कारण पुराने समय में इनके द्वारा जलयानों को यात्रा करने में बड़ा सुभीता रहता था। इसीलिए उन दिनों इनको व्यावसायिक या तिजारती पवन (Trade Winds) कहते थे। इसी नाम से ये हवाएँ आज भी प्रसिद्ध हैं। इन हवाओं का बहुत अधिक महत्व है।

हम ऊपर बता चुके हैं कि शीतोष्ण कटिबन्धों के आगे ध्रुवों की ओर लघुभार-प्रदेश हैं। उच्च-भार-प्रदेश से लघुभार-प्रदेश की ओर वायु का प्रवाह होना आवश्यक है। इसीलिए शीतोष्ण कटिबन्धों से ध्रुवों की ओर भी वायु का प्रवाह होता है। ये हवाएँ भी फेरल के सिद्धान्त के अनुसार घूम जाने के कारण उत्तरीय गोलार्द्ध में 'पछुआ' और 'दक्षिणी पछुआ' और दक्षिणीय गोलार्द्ध में अपनी दिशा के अनुसार 'उत्तरीय पछुआ' और 'पछुआ' कहलाती हैं। इस प्रकार दोनों गोलार्द्धों में ध्रुवों के समीप पछुआ हवाएँ चला करती हैं। दक्षिणीय गोलार्द्ध में पछुआ हवाएँ उत्तरीय गोलार्द्ध की अपेक्षा अधिक निश्चित और स्थायी रहती हैं। इसका कारण यह है कि दक्षिणीय गोलार्द्ध में स्थल की न्यूनता है तथा अधिकांश में सर्वथा अभाव है। इसलिए उनके वेग को रोकनेवाली कोई अड़चन नहीं मिलती। इनके अति प्रचण्ड वेग के कारण इनको 'वीर पछुआ' कहते हैं। इनका प्रभुत्व ४०° दक्षिणी अक्षांश के आस-पास रहता है, इसलिए इनको 'गरजती चालीसा' भी कहते हैं।

पूर्वकाल में हवाओं का उपयोग समुद्र में चलनेवाले जलयानों की यात्रा के लिए होता था। मल्लाह लोग इन्हीं हवाओं के वेग को देखकर अपनी यात्रा का समय निश्चित

करते थे। इसलिए जहाँ-कहीं मल्लाहों को इन हवाओं के सम्बन्ध में कोई अनोखी और अद्भुत बात ज्ञात होती थी, वे उस स्थान की पहचान बनाने के लिए उसका कोई ऐसा नाम रख देते थे, जो उस स्थान की विचित्रता का द्योतक होता था। 'वीर पछुआ' और 'गरजती चालीसा' हवाओं के नाम मल्लाहों द्वारा ही रक्खे गए थे। इसी प्रकार मल्लाहों ने 'डॉल्ड्रम' व 'हार्स लैटीट्यू ड' (Doldrums and Horse-latitude) नामों की रचना की। 'डॉल्ड्रम' भूमध्य का वह प्रदेश कहलाता है जहाँ पर धरातलीय वायु का सर्वथा अभाव है। इसमें भूमध्यीय लघुभार रहता है और इस कारण यहाँ वायु का प्रवाह धरातल पर न होकर धरातल से आकाश की ओर होता है अर्थात् हवा ऊपर उठती है। हवा के अभाव से इस प्रदेश का सागर शान्त रहता है। मल्लाह जब अपने पालवाले जहाज़ लेकर इस प्रदेश में पहुँचते थे तब उनको सप्ताहों और कभी-कभी दो-एक महीनों तक रुका रहना पड़ता था, क्योंकि उनके पालों में भरने के लिए यहाँ हवा ही नहीं रहती थी। इसीलिए वे इस प्रदेश को 'सोनेवाली जगह' या डॉल्ड्रम कहते थे।

जिस प्रकार भूमध्य प्रदेश के लघुभार के कारण वहाँ डॉल्ड्रम अथवा शान्तप्रदेश बनता है उसी प्रकार के शान्तप्रदेश उत्तरीय और दक्षिणीय अक्षांशों के उच्चभार-प्रदेशों में हैं। इन शान्तप्रदेशों में पहुँचने पर भी मल्लाहों को अपनी नावें चलाने में बड़ी कठिनाई पड़ती थी। हवा के अभाव में अधिक बोझवाली नावों का जब आगे बढ़ना असम्भव हो जाता था तब मल्लाह अपनी नावों को हल्का करने के लिए अपने घोड़ों को समुद्र में डाल देते थे। इसी कारण इन प्रदेशों को 'हार्स लैटी-ट्यू ड' या 'अश्वाक्षांश' कहते हैं।

व्यावसायिक और पछुआ हवाएँ यद्यपि निश्चित और स्थायी दिशा की ओर बहती हैं तथापि सूर्य के उत्तरायण और दक्षिणायन होने से इनके प्रवाह-क्षेत्र की स्थिति में भी थोड़ा अन्तर पड़ जाता है। जब हमारे यहाँ सूर्य उत्तरायण होता है तब भूमध्यीय लघुभार-प्रदेश का विस्तार भूमध्यरेखा के थोड़ा उत्तर की ओर अधिक होता है अर्थात् ताप सम्बन्धी भूमध्य रेखा विषुवत् रेखा से प्रायः ११° उत्तरी अक्षांश तक बढ़ आती है। फलस्वरूप दक्षिणी-पूर्वीय तिजारती हवाएँ भूमध्य रेखा के थोड़ा उत्तर तक चलती हैं और उत्तरी-पूर्वीय तिजारती हवाएँ भूमध्य रेखा तक नहीं पहुँचतीं। पछुआ हवाएँ भी दोनों गोलार्द्धों में थोड़ी उत्तर की ओर खिसक चलती हैं, क्योंकि अश्वाक्षांश अथवा अयन रेखा का उच्चभार भी पाँच-छः अंश अधिक उत्तर को चढ़ आता है, जिससे पछुआ हवाएँ भी इतने ही अंश उत्तरी स्थान से प्रस्थान करती हैं।

दक्षिणायन स्थिति में सूर्य दक्षिणी गोलार्द्ध में अधिक सीधी किरणें छोड़ता है, इसलिए डॉल्ड्रम भूमध्य रेखा के पास दक्षिण की ओर बढ़ जाता है और फलस्वरूप तिजारती हवाओं के प्रस्थान करने की स्थिति भी इसी प्रकार अधिक दक्षिण की ओर हो जाती है। अश्वाक्षांश अथवा उच्चभार का शान्तप्रदेश भी अधिक दक्षिण की ओर खिसक आता है। ग्रीष्म में पहले जहाँ अश्वाक्षांश थे, वहाँ पर अब शीतकाल में पछुआ हवाएँ चलने लगती हैं।

यदि समस्त धरातल पर जल ही जल होता तब ये धरातलीय हवाएँ (पछुआ और तिजारती) निरन्तर एक रूप से वर्ष भर चलती रहतीं। केवल सूर्य की स्थिति के अनुसार इनका प्रवाह-क्षेत्र थोड़ा उत्तर-दक्षिण होता रहता। परन्तु धरातल पर एक बड़ा अंश स्थल का है। जल की अपेक्षा स्थल शीघ्र गरम और ठण्डा होता है, इससे स्थल और जल पर होकर चलनेवाली हवाओं की गति और एकरूपता में अन्तर पड़ जाता है। जिस प्रकार समुद्र-तट के निकट, स्थल और जल के असमान रूप से गरम और ठण्डा होने से, स्थल और समुद्री हवाएँ चलती हैं, उसी प्रकार महाद्वीपों और महासागरों के गरम और ठण्डा होने की गति में असमानता होने से गर्मी और सर्दी की ऋतु में विशेष हवाएँ चलती हैं। ये हवाएँ मौसम के अनुसार अपनी दिशा बदल देती हैं, इसलिए इन्हें मौसमी हवाएँ अथवा 'मानसून' कहते हैं।

इन हवाओं का प्रधान क्षेत्र हिन्द महासागर और उसके निकटवर्ती स्थलखण्ड हैं। इसका कारण यह है हिन्द महासागर के ठीक उत्तर में उष्ण कटिबन्ध के निकट ही विशाल स्थल-खण्ड हैं। अटलाण्टिक और पैसिफ़िक महासागरों में ऐसा कोई विशाल स्थलखण्ड नहीं है। अटलाण्टिक महासागर में गिनी की खाड़ी के उत्तर में केवल पश्चिमी अफ़्रीका का कुछ भाग उष्ण कटिबन्ध के समीप आता है। इन प्रदेशों में मानसून का प्रभाव होता है। उसी प्रकार पैसिफ़िक महासागर में पनामा की खाड़ी के उत्तर में कुछ स्थलखण्ड तथा ऑस्ट्रेलिया महाद्वीप का उत्तरी भाग, जो पूर्वीय द्वीपसमूह के दक्षिण में है, मानसून के प्रवाह-क्षेत्र हैं। परन्तु पश्चिमी अफ़्रीका तथा मध्य अमेरिका का स्थल-प्रदेश एशिया की अपेक्षा बहुत ही कम है। इसलिए पश्चिमी अफ़्रीका और मध्य अमेरिका की

मानसून बहुत क्षीण होती है। आदर्श मानसून तो हिन्द-महासागर के समीप दक्षिणी-पूर्वी एशिया में पाई जाती है।

जून और जुलाई के ग्रीष्मकाल में वायु का अति-लघुभार जैकबाबाद के पास सिन्ध तथा मध्य एशिया में होता है। इन दिनों में दक्षिण की ओर सागर में वायु का उच्चभार होता है। फलस्वरूप सागर की ओर से वायु का प्रवाह महाद्वीप की ओर आरम्भ होता है। इस वायु का प्रवाह यों तो दक्षिण से उत्तर की ओर होना चाहिए परन्तु पृथ्वी के आवर्त्तन के कारण इसकी दिशा भारत में दक्षिणी-पश्चिमी हो जाती है। इसी कारण इसका प्रभाव अरब देश में बहुत कम और बलूचिस्तान में नहीं के बराबर रहता है। समुद्र की ओर से आने के कारण यह वायु भाप से लदी होती है और जब इसके मार्ग में ऊँची भूमि अथवा पहाड़ आदि की रुकावट पड़ जाती है तब उसको उल्लंघन करने के प्रयत्न में इसको ऊँचा चढ़ना पड़ता है। ऊपर चढ़ने से यह फैल जाती है और ठण्डी हो जाती है, जिससे उसकी भाप जल में परिणत हो जाती है और यह वायु जल बरसाने लगती है। भारत, चीन तथा समस्त दक्षिणी-पूर्वी एशिया में जून-जुलाई-अगस्त में प्रचुर वर्षा इसी मानसून से होती है।

शीतकाल आरम्भ होते ही वायुभार की स्थिति बदल जाती है। इन दिनों सूर्य की लम्बाकार किरणें भूमध्य रेखा और मकर रेखा के बीच में पड़ती हैं। एशिया के जिन स्थल-प्रदेशों में पहले परम तापक्रम तथा लघुभार था, उनमें शरद् ऋतु के आते ही अल्प तापक्रम तथा उच्चभार उपस्थित हो जाता है। समुद्र के धीरे-धीरे ठण्डा होने से भूमध्य रेखा के निकट स्थल की अपेक्षा कहीं अधिक तापक्रम तथा लघुवायुभार प्रतीत होता है। फल यह होता है कि ग्रीष्म की मानसूनी हवा स्थल से समुद्र की ओर लौटने लगती है। इसकी दिशा उत्तर से दक्षिण की ओर न होकर उत्तरी-पूर्वी हो जाती है। यह हवा शरद् ऋतु में चलती है, इसलिए इसे शरत्काल की मानसून कहते हैं।

प्रशान्त (पैसिफ़िक) महासागर में भी, हमारे यहाँ की ग्रीष्म ऋतु की तरह, एशिया का लघुभार सागर की ओर से वायु को खींचता है और इस कारण इस प्रदेश में दक्षिणी-पूर्वी मानसून चलती है। इसका प्रवाह एशिया के दक्षिणी-पूर्वी खण्ड में रहता है। श्याम, कोचीन-चीन, चीन और जापान के द्वीपसमूह इसी के प्रभाव में रहते हैं। शरद् ऋतु में जब हमारे यहाँ उत्तरी-पूर्वी मानसून चलती है तब इस प्रदेश में भी वायु की दिशा बदल जाती है और समुद्र की ओर स्थल-पवन चलने लगती है। इस समय इसकी दिशा उत्तरी-पश्चिमी हो जाती है।

धरातल पर चलनेवाली जिन हवाओं का वर्णन हमने ऊपर किया है, उनमें से तिजारती और पछुआ तथा ध्रुव प्रदेश में चलनेवाली हवाएँ तो स्थायी हैं अर्थात् सदैव एक ही दिशा में चला करती हैं। केवल सूर्य के उत्तरायण और दक्षिणायन होने से इन हवाओं का प्रवाह-क्षेत्र उत्तर-दक्षिण होता रहता है। मानसूनी हवाएँ ऋतु-परिवर्त्तन के अनुसार अपनी दिशा बदलती हैं, इसीसे ये हवाएँ स्थायी हवाएँ नहीं कहलातीं। मौसम के अनुसार दिशा बदलने से ही ये मौसमी अथवा मानसूनी हवाएँ कहलाती हैं। इनके अतिरिक्त धरातल पर कुछ और भी हवाएँ अनियमित रूप से चला करती हैं। इन हवाओं की न दिशा स्थिर होती है और न क्षेत्र। इनके चलने के उपयुक्त कारण उत्पन्न होते ही ये चलने लगती हैं। धरातल के विविध प्रदेशों में इस प्रकार की अनियमित हवाएँ चलती हैं और विभिन्न प्रदेशों में विभिन्न नामों से पुकारी जाती हैं। बंगाल की खाड़ी में साइक्लोन (Cyclone), चीन में टाईफ़ून (Typhoon) और पश्चिमी द्वीप-समूह में इन्हें हरीकेन (Hurricane) के नाम से पुकारते हैं। ये हवाएँ वास्तव में तूफ़ानी आँधियाँ हैं, जो कभी-कभी प्रकट हो जाती हैं और अपने प्रवाह-क्षेत्र में प्रलयंकारी दृश्य उपस्थित कर देती हैं। ये बड़ी वेगवती होती हैं और जिस क्षेत्र में भी चलती हैं वहाँ महानाश का कारण होती हैं।

शान्त
दक्षिणी पछुआ वायु
शान्त
समशीतोष्ण शान्त
उत्तर-पूर्वी तिजारती हवा
विषुवत् शान्त
शान्त
दक्षिणी-पूर्वी तिजारती हवा
समशीतोष्ण शान्त
शान्त
उत्तरी पछुआ वायु
शान्त

तापक्रम की असमानता और पृथ्वी के घूमने के कारण किस प्रकार मुख्य-मुख्य वायु-धाराएँ उत्पन्न होती हैं (दे० १७८२-८४ का मैटर)

मिसीसिपी की घाटी में भी इसी प्रकार की नाशकारी हवा चलती है, जिसे टार्नेडो (Tornado) कहते हैं। इस आँधी का पथ चौथाई मील चौड़ा और २५ मील लम्बा होता है, परन्तु क्षण भर के चलने में ही यह वर्षों का काम मिट्टी में मिला देती है।

सहारा रेगिस्तान से भी एक भीषण आँधी उत्तर की ओर चलती है जो एकदम सूखी होती है। इसको स्पेन में 'सोलानो' (Solano), इटली में 'सिराको' (Sirocco) और उत्तरी आल्प्स में 'फान' (Fohn) कहते हैं। इसी की एक शाखा पूर्व की ओर चलती है, जिसे मिस्र में 'खामसिन' (५० दिन चलनेवाली) और अरब में 'सिमून' कहते हैं। पश्चिम की ओर सूदान में उसे 'हरमाटन' कहते हैं।

उत्तरी अमेरिका में राकी पहाड़ से मैदान में चलनेवाली गरम हवा को 'चिनूक' कहते हैं। शीतकाल में सुई के समान छेदनेवाले बरफ़-कणों को उड़ानेवाली आँधी को संयुक्त राष्ट्र में ब्लिज़ार्ड (Blizzard) कहते हैं। एंडीज़ की ठण्डी पर ख़ुश्क आँधियाँ पूना (Puna) कहलाती हैं।

ये आँधियाँ वास्तव में चक्रवात नामक विचित्र बवण्डरों के ही विभिन्न रूप हैं। हम चक्रवात और प्रतिचक्रवात के विषय में अंक ७ पृष्ठ ८२८ पर आपको कुछ बातें बता चुके हैं। धरातल पर अनियमित रूप से चलनेवाली हवाओं में चक्रवात और प्रतिचक्रवात प्रधान हैं। चक्रवात का रूप जल के भँवर की भाँति ही होता है। गरमी के दिनों में बहुधा इस प्रकार के वायु के भँवर सड़कों और खेतों में नाचते हुए दिखाई पड़ते हैं। चक्रवात भी इसी प्रकार के भँवर हैं, जो वायुमण्डल में उत्पन्न होते हैं। चक्रवात का व्यास २० मील से लेकर दो-तीन हज़ार मील तक होता है। इसका आकार कभी-कभी गोल परन्तु बहुधा अण्डाकार होता है।

चक्रवात और प्रतिचक्रवात जब चलते हैं तब ऐसा प्रतीत होता है कि एक केन्द्रिक कीली के चारों ओर हवा चक्र के रूप में भीषण वेग से नाचती है। चक्रवात में नाचता हुआ वायुचक्र बाहर की हवा को केन्द्र की ओर खींचता प्रतीत होता है और प्रतिचक्रवात में घूमता हुआ वायुचक्र केन्द्र की ओर से हवा को बाहर की ओर ठेलता प्रतीत होता है। इसका कारण यह है कि चक्रवात के केन्द्र में वायुभार सबसे कम (लघुतम) होता है और केन्द्र के चारों ओर वायुभार समान रीति से बढ़ता जाता है, जिससे मध्य लघुभार के चारों ओर समभार रेखाएँ प्रायः सम केन्द्रिक वृत्त बनाती हैं। यही कारण है कि चक्रवात का आकार कभी-कभी गोल परन्तु बहुधा अण्डाकार
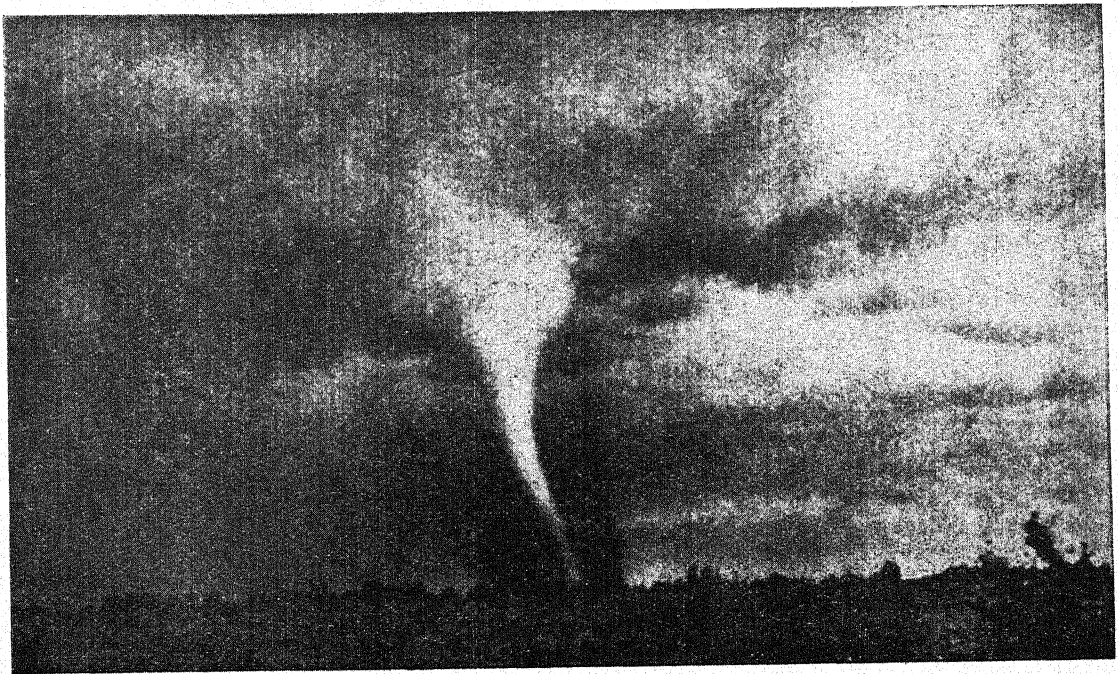
चक्रवात या बवण्डर का दृश्य

होता है। प्रतिचक्रवात के मध्य में उच्चभार होता है और चारों ओर समान रूप से वायुभार घटता जाता है।

चक्रवात और प्रतिचक्रवात के मध्य और बाहर के वायुभार के भेद का ही परिणाम यह है कि चक्रवात में बाहर की वायु उसके केन्द्र की ओर (उच्चभार से लघुभार की ओर) दौड़ती है और प्रतिचक्रवात में केन्द्र की वायु बाहर की ओर दौड़ती है। परन्तु जब चक्रवात और प्रतिचक्रवात चलते हैं तब हम देखते हैं कि वायु का प्रवाह उच्चभार से लघुभार की ओर सीधा नहीं होता वरन् घूमता हुआ होता है। धरातल के उत्तरीय और दक्षिणीय गोलार्द्धों में वायु की घूमने की दिशा भी भिन्न है। यह फेरल के सिद्धान्त के अनुसार उत्तरी गोलार्द्ध में दाहिनी ओर और दक्षिणी गोलार्द्ध में बाईं ओर होती है। इस सम्बन्ध में बायज़ बैलट नामक एक डच प्रोफ़ेसर का नियम भी याद रखना चाहिए। बायज़ बैलट के सिद्धान्त से वायुभार के अनुसार हवा के चलने की दिशा ठीक-ठीक ज्ञात हो जाती है।

इस सिद्धान्त के अनुसार "उत्तरी गोलार्द्ध में अपनी पीठ हवा की ओर करके खड़े हों तो आपके बाएँ हाथ की तरफ़ लघुभार और दाहिने हाथ की तरफ़ उच्चभार रहेगा। पर दक्षिणी गोलार्द्ध में यदि आप हवा की तरफ़ पीठ करके खड़े हों तो लघुभार आपके दाहिने हाथ की तरफ़ और उच्चभार बाएँ हाथ की तरफ़ रहेगा।" इस प्रकार उत्तरी गोलार्द्ध में चक्रवात के घूमने की दिशा घड़ी की सुइयों के विपक्ष में और दक्षिणी गोलार्द्ध में पक्ष में रहती है और प्रतिचक्रवात की इसके विपरीत।

शीतोष्ण कटिबन्ध में चक्रवात अधिकतर शीतकाल में प्रकट होते हैं, क्योंकि इसी ऋतु में हिमाच्छादित ग्रीनलैण्ड के तापक्रम और उष्ण गल्फस्ट्रीम से प्रवाहित अटलांटिक महासागर के तापक्रम में अत्यन्त अंतर होता है। इसी प्रकार का तापक्रम-भेद उत्तरी-पूर्वी एशिया के स्थल और उष्ण क्यूरोशिवो के जल में होता है। परन्तु उष्ण कटिबन्ध में चक्रवात प्रायः ग्रीष्म ऋतु में उत्पन्न होते हैं, क्योंकि तभी स्थल के परम तापक्रम और समुद्र के तापक्रम में महत्तम (सबसे अधिक) अन्तर होता है। शीतोष्ण कटिबन्ध के चक्रवात पछुआ हवाओं के मार्ग में स्थित होते हैं। इस-लिए वे पश्चिम से पूर्व की ओर चलते रहते हैं। पर उष्ण-कटिबन्ध के चक्रवात तिजारती हवाओं के मार्ग में उत्पन्न होते हैं। इसलिए वे पूर्व से पश्चिम की ओर बढ़ते हैं। चक्रवात दोनों ही गोलार्द्धों में पाये जाते हैं।

चक्रवात के मध्य में लघुभार होता है, इसलिए हवा के ऊपर उठने पर भाप बादलों में बदल जाती है और पानी बरसाती है। इसलिए जहाँ चक्रवात का आगमन होता है वहाँ अचानक बादल घिर आते हैं और वर्षा होती है। चक्रवात के आगमन से और भी बहुत-सी घटनाएँ होती हैं। इनमें से कुछ तो चक्रवात के आगमन की पूर्व-सूचना की द्योतक होती हैं और कुछ चक्रवात के विदा होने की। जब चक्रवात आने को होता है तब हवा चलना बन्द हो जाती है। नालियों में बदबू आने लगती है। गठिया के रोगियों के जोड़ों में दर्द बढ़ जाता है। उनीले और तहीले बादल आकाश में छा जाते हैं और बहुधा वायुमण्डल में घना कुहरा छा जाता है। इसके पीछे वर्षा आरम्भ होती है जो बूँदा-बाँदी के रूप में आरम्भ होकर घनी झाड़ी का रूप धारण कर लेती है। साथ ही आँधी के झोंके आरम्भ हो जाते हैं।

इस काल में बैरोमीटर का पारा बराबर गिरता जाता है। थोड़े काल-पर्यन्त पारा गिरना बन्द हो जाता है और मौसम सुहावना हो जाता है। इस समय चक्रवात का केन्द्र उस स्थान पर पहुँच जाता है। इसके बाद ही वर्षा की झड़ी लग जाती है और कपसीले बादल घने रूप में छा जाते हैं।

कभी-कभी मुख्य चक्रवात के साथ-साथ छोटे-छोटे अन्य चक्रवात भी चलते हैं, जो सप्ताहों तक प्रमुख चक्र-वात का पीछा करते रहते हैं। इनके कारण मौसम कभी-कभी सप्ताहों अनिश्चित रहता है। बहुधा इनके उपरान्त प्रतिचक्रवात का आगमन होता है। प्रतिचक्रवात के केन्द्र में महत्तम वायुभार रहता है, परन्तु चक्रवात की भाँति इसके केन्द्र और बाहर के वायुभार का अन्तर बहुत अधिक नहीं होता। इस कारण प्रतिचक्रवात का केन्द्र शान्त रहता है!

मौसम के निर्माण में चक्रवातों और प्रतिचक्रवातों का बहुत प्रभाव पड़ता है, विशेषकर चक्रवातों का। इसलिए वैज्ञानिकों ने यह जानने की बहुत चेष्टा की है कि चक्रवात और प्रतिचक्रवात क्यों और कैसे उत्पन्न होते हैं? अभी तक प्रतिचक्रवातों की उत्पत्ति का कारण रहस्यमय ही है, परन्तु चक्रवातों की उत्पत्ति के विषय में वैज्ञानिकों ने कुछ कारण निर्धारित कर लिए हैं।

यह विश्वास किया जाता है कि धरातल पर चक्रवातों की उत्पत्ति सूर्य के धरातल पर उत्पन्न होनेवाले चक्रवातों के कारण होती है। ये चक्रवात सूर्य में दिखाई देनेवाले धब्बों से सम्बन्धित हैं, जिनका हाल आप पढ़ ही चुके हैं।
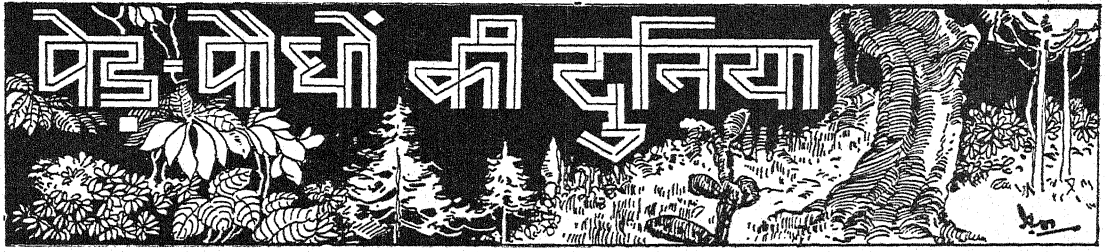
अन्नपूर्णा-भंडार पत्ती की कहानी—(५)

श्वसन

पिछले अध्याय में हम देख चुके हैं कि पौधे हवा के कार्बन से निशास्ता या दूसरे कार्बोहाइड्रेट्स की रचना करते हैं। यह उत्थानात्मक क्रिया है, जिसमें हवा और पानी-जैसी साधारण वस्तुओं के मेल से अमूल्य पेचीदा वस्तुएँ बनकर तैयार होती हैं। इन परिवर्त्तनों में शक्ति का काम पड़ता है, जिसे पौधे सूरज की किरणों से प्राप्त करते हैं। जिस क्रिया की अब हम चर्चा करने जा रहे हैं वह पतनात्मक क्रिया है, जिसमें उपार्जित पेचदार द्रव्य साधारण वस्तुओं में पलट जाते हैं और साथ में शक्ति मुक्त होती है जिसके सहारे पौधों में काम-काज होते हैं।

आपको सुनकर शायद आश्चर्य होगा कि हमारी आपकी तरह पेड़-पौधे भी साँस लेते हैं। इस क्रिया में ये भी, दूसरे जीवों की तरह, ऑक्सीजन ग्रहण कर कार्बन-डाइ-ऑक्साइड त्यागते हैं। यदि इनमें और पशुओं के श्वसन में कुछ भी भेद है तो वह केवल इतना ही है कि बहुधा जानवरों में साँस लेने के लिए विशेष अंग होते हैं और पौधों में ऐसा नहीं होता। इनके सभी अंगों से श्वसन होता है।

पौधे भी दूसरे जीवों की तरह साँस लेते हैं

पौधे भी दूसरे जीवों की तरह साँस लेते हैं, जिसमें ये ऑक्सीजन ले कार्बन-डाइ-ऑक्साइड बाहर निकालते हैं, इस बात को हम प्रयोगों से साबित कर सकते हैं।

प्रयोग—पाँच चौड़े मुँह की बोतलें ले इनमें से चार में थोड़ा-थोड़ा चूने का पानी (Lime-water) और पाँचवीं में कुछ जखई किए चने, मटर या दूसरे बीज भर दीजिए। बोतलों में दो छेदवाले काग लगा बीज की बोतल बीच में रख इन्हें शीशे की नलियों से मिला दीजिए (चि० १)। एक सिरे की बोतल रबर की नली द्वारा ऐस्पिरेटर (Aspirator) या वायु बाहर खींचनेवाले यंत्र से लगा दीजिए। जोड़ों और छेदों पर मोम, वेसलीन या कोई दूसरी ऐसी ही चीज़ लगा दीजिए ताकि हवा का मार्ग न रहे। बाद में ऐस्पिरेटर को धीरे से चालू कर दीजिए। ज्यों-ज्यों ऐस्पिरेटर से पानी बाहर टपकेगा उसकी जगह बाहर से हवा आएगी। यह हवा यहाँ क्रमशः पाँचों बोतलों में होकर दाखिल होती है।

आप देखेंगे कि जैसे ही बाहरी हवा चूने के पानी की पहली बोतल में आती है यह गँदला होने लगता है।
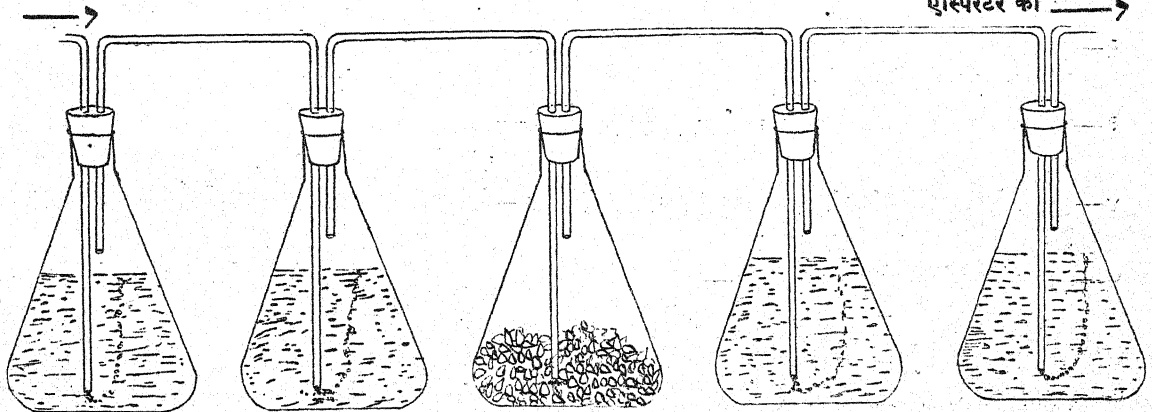
चि० १—पशुओं की तरह पौधे भी साँस लेते हैं, जिसमें वे ऑक्सीजन ग्रहण करते और कार्बन-डाइ-ऑक्साइड त्यागते हैं। (चित्र—श्री० डी० एस० कमठान् द्वारा)

जब यहाँ से गुज़रकर हवा दूसरी बोतल में दाख़िल होती है तो उस बोतल का चूने का पानी साफ़ बना रहता है। यहाँ से निकलकर हवा बीजों की बोतल में आती है और फिर चूने के पानी की तीसरी बोतल में। यहाँ हवा के आते ही, पहली बोतल की तरह, चूने का पानी फिर गँदला होने लगता है। अब हवा चूने के पानी की आख़िरी बोतल में दाख़िल होती है पर यहाँ का पानी ज्यों-का-त्यों बना रहता है। अन्त में हवा ऐस्पिरेटर में आती है।

व्याख्या और परिणाम—साधारण वायु में कार्बन-डाइ-ऑक्साइड होती है। इसलिए जब यह बाहर से पहली बोतल में दाख़िल होती है तो चूने के पानी और कार्बन-डाइ-ऑक्साइड के मेल से कैल्शियम-कार्बोनेट बन जाता है, जो पानी में घुलनशील नहीं है, इसलिए इसका अवक्षेप होने से पानी गँदला होने लगता है:—

$$Ca(OH)_2 + CO_2 = CaCO_3 + H_2O$$

चूने का पानी + कार्बन-डाइ-ऑक्साइड = कैल्शियम कार्बोनेट + पानी
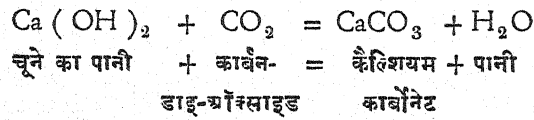
जब पहली बोतल से हवा गुज़रकर दूसरी में पहुँचती है उसमें कार्बन-डाइ-ऑक्साइड नहीं होती, इसलिए यहाँ चूने के पानी पर कोई असर नहीं पड़ता और वह ज्यों-का-त्यों बना रहता है। दूसरी बोतल से निकली हवा, जिसमें अब कार्बन-डाइ-ऑक्साइड बिल्कुल ही नहीं होती, बीजों की बोतल में होती हुई चूने के पानी की तीसरी बोतल में पहुँचती है। इस बोतल में, पहली बोतल की तरह कैल्शियम कार्बोनेट का फिर अवक्षेप होने लगता है। इससे साबित होता है कि हवा में फिर कार्बन-डाइ-ऑक्साइड शामिल हो गई। बीजों की बोतल में आने के पहले इस हवा में कार्बन-डाइ-ऑक्साइड नहीं थी और उससे निकलते ही यह गैस उसमें आ गई। इसलिए यह कार्बन-डाइ-ऑक्साइड बीजों से ही आई। ऐस्पिरेटर की हवा की जाँच करने पर उसमें ऑक्सीजन नहीं मिलेगी। इससे हम इस परिणाम पर पहुँचे कि बीजों ने ऑक्सीजन का ग्रहण और कार्बन-डाइ-ऑक्साइड का त्याग किया है। अतः पशु-पक्षियों की भाँति बीज भी ऑक्सीजन लेते और कार्बन-डाइ-ऑक्साइड छोड़ते हैं।

बीजों के बजाय हम पौधों के फूल, फल, जड़, पत्ती कोई भी अंग की परीक्षा कर सकते हैं, पर याद रखना चाहिए कि पत्तियों को काम में लाते समय बोतल को काले कपड़े या काग़ज़ से लपेट देना चाहिए ताकि रोशनी न मिले, नहीं तो श्वसन के साथ-साथ कार्बन-एसिमिलेशन होने लगता है। इस क्रिया में, जैसा आप पहले देख चुके हैं, पत्तियाँ हवा की कार्बन-डाइ-ऑक्साइड ले ऑक्सीजन त्यागती हैं। यथार्थ उपकरण मिलने पर फोटोसिन्थिसिस (Photosynthesis) श्वसन से अधिक तेज़ी से होता है, जिससे हमें श्वसन का ठीक पता नहीं लग पाता। यही कारण है कि दिन में पौधों से बहुधा साँस लेने का ठीक अन्दाज़ नहीं हो पाता। फिर भी दोनों क्रियाएँ साथ-साथ होती रहती हैं। श्वसन और फोटोसिन्थिसिस के यथार्थ बोध के लिए हमें इनके ठीक-ठीक लक्षण और अन्तर पर विचार करना चाहिए:—

श्वसन	फोटोसिन्थिसिस
१—श्वसन पतनात्मक क्रिया है जिसके कारण पौधों का वज़न कम पड़ता है।	१—फोटोसिन्थिसिस उत्थानात्मक क्रिया है, जिसके फलस्वरूप पौधों के वज़न में बढ़ती होती है।
२—श्वसन के लिए पर्ण-हरित का काम नहीं। यह पौधों के सभी अंगों में होता रहता है।	२—फोटोसिन्थिसिस पर्णहरित पर निर्भर है। यह पौधों की पत्तियों और दूसरे हरे अंगों में ही होता है।
३—श्वसन में ऑक्सीजन व्यय और कार्बन-डाइ-ऑक्साइड प्राप्त होता है।	३—फोटोसिन्थिसिस में कार्बन-डाइ-ऑक्साइड व्यय और ऑक्सीजन प्राप्त होता है।
४—श्वसन के लिए रोशनी की ज़रूरत नहीं; यह पौधों में रात-दिन हर समय होता रहता है।	४—फोटोसिन्थिसिस प्रकाश पर निर्भर है, इसलिए यह सिर्फ़ दिन में ही होता है।
५—श्वसन में कार्बोहाइड्रेट व्यय होते हैं:— $6O_2 + C_6H_{12}O_6 = 6CO_2 + 6H_2O +$ Energy **ऑक्सीजन+कार्बोहाइड्रेट=कार्बन-डाइ-ऑक्साइड+जल+शक्ति**	५—फोटोसिन्थिसिस में कार्बोहाइड्रेट की रचना होती है:— $CO_2 + H_2O = CH_2O + O_2$ (फार्मेल्डीहाइड) $6CH_2O = C_6H_{12}O_6$ (कार्बोहाइड्रेट)
६—श्वसन में सम्भावित शक्ति (Potential energy) गत्यर्थक शक्ति (Kinetic energy) में बदल जाती है।	६—फोटोसिन्थिसिस में सूरज की किरणों की गत्यर्थक शक्ति पौधों में सम्भावित शक्ति के रूप में इकट्ठी हो जाती है।
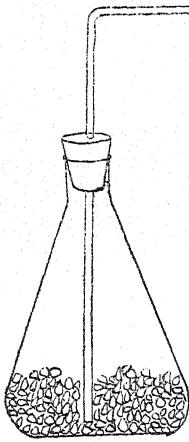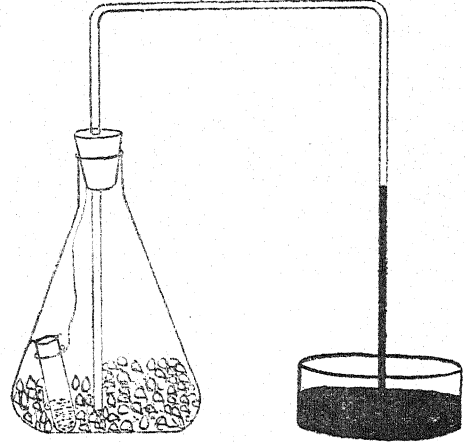
चि० २ (अ) चि० २ (ब)

श्वसन में जितनी ऑक्सीजन व्यय होती है लगभग उतनी ही कार्बन-डाइ-ऑक्साइड प्राप्त होती है।

(चित्र—श्री० डी० एस० कमठान् द्वारा)

श्वसन के परिवर्त्तन-सूत्र से पता चलता है कि इस क्रिया में जितनी ऑक्सीजन ख़र्च होती है उतनी ही कार्बन-डाइ-ऑक्साइड बाहर आती है:—

$$C_6 H_{12}O_6 + 6 O_2 = 6 CO_2 + 6 H_2O$$
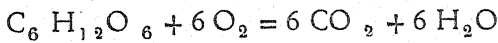
शक्कर + ऑक्सीजन = कार्बन-डाइ-ऑक्साइड + पानी

इस बात को हम प्रयोगों से दिखा सकते हैं।

प्रयोग—दो सपाट पेंदी की बोतलें ले उनमें दो छेद-वाली काग लगा चित्र २ की जैसी शीशे की नली पहना दीजिए। दोनों बोतलों में भिगोए बीज डाल, इनमें से एक को वैसे ही रख, दूसरी में एक छोटे ट्यूब में चूने का पानी रख दीजिए (चि० २ अ, ब)। दोनों बोतलों से बाहर आनेवाली नली को पारे की प्याली में डुबो दीजिए (चि० २)। हवा को इधर-उधर जाने से रोकने के लिए जोड़ों पर वेसलीन, मोम, या कोई दूसरी ऐसी ही चीज़ लगा देनी चाहिए। दो-तीन दिन बाद एपैरेटस की जाँच करने पर आप देखेंगे कि जिस बोतल में चूने का पानी रक्खा था उसकी नली में पारा ऊपर चढ़ आया है (चि० २ ब); परन्तु दूसरी में वह ज्यों-का-त्यों बना है (चि० २ अ)।

व्याख्या— बीजों में श्वसन होता है, जिसमें बोतलों की हवा की ऑक्सीजन ख़र्च होती है पर उसमें बीजों से बाहर आई कार्बन-डाइ-ऑक्साइड आ मिलती है। बोतल (ब) में चूने का पानी रक्खा है जो कार्बन-डाइ-ऑक्साइड को जज़्ब कर लेता है, जिससे इस बोतल की हवा कम पड़ जाती है और उसकी जगह नली में पारा चढ़ आता है। साथ में रक्खी बोतल (अ) में गैस को सोखनेवाली कोई चीज़ नहीं है; इसलिए यहाँ जो कार्बन-डाइ-ऑक्साइड बीजों से निकलकर आती है, वह बोतल की हवा में ही रहती है। हम देखते हैं कि इस बोतल की हवा की मात्रा प्रयोग के प्रारम्भ और अन्त में एक-सी बनी रहती हैं; क्योंकि इसकी नली में पारा ऊपर नहीं चढ़ता। इसलिए यह सिद्ध होता है कि जितनी ऑक्सीजन श्वसन में व्यय होती है उतनी ही कार्बन-डाइ-ऑक्साइड इस क्रिया में हासिल भी होती है।

श्वसन-क्रिया में जो कार्बन-डाइ-ऑक्साइड बाहर आती है और जो ऑक्सीजन व्यय होती है अर्थात् $\frac{CO_2}{O_2}$ को श्वसन-भाज्यफल (Respiratory Quotient) या रेस्पिरेटरी कोशंट कहते हैं। यह अनुपात प्रायः एकाई होता है।

बहुधा श्वसन में कार्बोहाइड्रेट्स ही ख़र्च होते हैं; पर कभी-कभी अन्य वस्तुएँ भी काम में आती हैं। ऐसी दशा में श्वसन भाज्यफल १ नहीं होता।

तेलवाले बीजों में साँस लेने की क्रिया में तैलीय पदार्थ काम में आते हैं। ऐसी दशा में ऑक्सीजन का अधिक ख़र्च होता है; क्योंकि श्वसन में काम आने के पहले इन तेलवाली वस्तुओं का कार्बोहाइड्रेट्स में बदल जाना आवश्यक है। इस क्रिया में भी ऑक्सीजन ख़र्च होती है। इसके बाद कार्बोहाइड्रेट्स का साधारण ढंग से श्वसन होता है। नागफनी और कुछ दूसरे ऐसे मांसल पौधों में साँस लेने की क्रिया अधूरी रह जाती है और इस दशा

में अन्तिम पदार्थ कार्बन-डाइ-ऑक्साइड और जल के बजाय कार्बनिक अम्ल होते हैं। इन दोनों ही दशा में श्वसन अनुपात इकाई से कम होता है।

इन्ट्रामालीक्यूलर (Intramolicular) **श्वसन**—जिस ढंग के श्वसन का हमने ऊपर वर्णन किया है वह साँस लेने की साधारण क्रिया है जो ऑक्सीजन मिलने पर होती है, पर किसी-किसी दशा में बाहरी ऑक्सीजन के अभाव में भी पौधों से कार्बन-डाइ-ऑक्साइड का त्याग होता रहता है। यह क्रिया साधारण श्वसन से भिन्न है। इसे इन्ट्रामालीक्यूलर—या ऐन-ईरोबिक—श्वसन कहते हैं। इस क्रिया में अल्कोहोल उत्पन्न होता है।
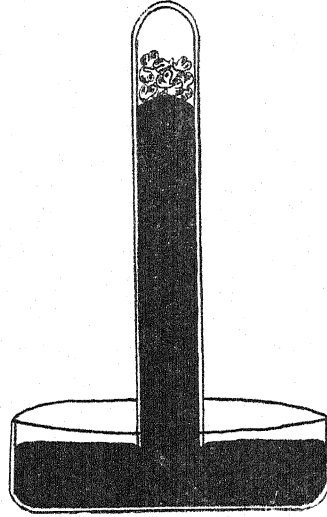
वैसे तो इन्ट्रामालीक्यूलर श्वसन न्यून कोटि के पौधों की ही विशेषता है पर कभी-कभी ऊँचे दरजे के पौधों में भी यह क्रिया होती है। इस तरह यदि उगते समय बीजों को बाहर से ऑक्सीजन न मिले तो इनमें इस ढंग से श्वसन होता है।

प्रयोग—एक टेस्ट-ट्यूब में पारा भर उसे पारे के ऊपर प्याली में उलटकर खड़ा कर दीजिए। ट्यूब के अन्दर सावधानी से कुछ भीगे चने या मटर चढ़ा दीजिए। पारे से हल्के होने के सबब ये बीज पारे के ऊपर आ जायेंगे (चित्र ३)। अपैरेटस को यों ही दो-तीन दिन रहने दीजिए। इस बीच में आप देखेंगे कि ट्यूब का कुछ भाग ख़ाली हो गया है और पारा और बीज नीचे खिसक आए हैं (चि० ३)। अब एक सिरे पर मुड़ी शीशे की नली में थोड़ा कास्टिक-पोटाश या सोडा ले होशियारी से ट्यूब के अन्दर फूँक दीजिए। इस घोल के ट्यूब में आते ही पारा फिर ऊपर चढ़ आता है और ट्यूब की हालत ठीक वैसी, जैसी प्रयोग के प्रारम्भ में थी, हो जाती है।

व्याख्या और परिणाम—बीजों में, पारे के ऊपर जहाँ इनका बाहरी हवा से कोई संसर्ग नहीं था, श्वसन होता रहा है। इस क्रिया में गैस का त्याग हुआ है, जिससे पारा और बीज नीचे खिसक आए हैं (चि० ३)। ट्यूब में कास्टिक-पोटाश या कास्टिक-सोडा पहुँचने पर गैस जज़्ब हो जाती है, इसलिए यह गैस कार्बन-डाइ-ऑक्साइड है। अतः बीजों में ऑक्सीजन के अभाव में श्वसन होता रहा है, जिसमें कार्बन-डाइ-ऑक्साइड का त्याग हुआ है।

चि० ३ (मि. शमसुद्दीन अहमद द्वारा)

$$C_6H_{12}O_6 = 2\,C_2H_6O + 2\,CO_2$$

शकर = अल्कोहोल + कार्बन-डाइ-ऑक्साइड
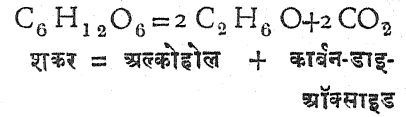
इस ढंग से इस श्वसन में शकर का अल्कोहोल में परिवर्त्तन होता है और शक्ति प्राप्त होती है। इस क्रिया में साधारण श्वसन की अपेक्षा शक्ति कम निकलती है, इसलिए ऐसे श्वसन से सामर्थ्य प्राप्त करने में शकर अधिक ख़र्च होती है और यह क्रिया पौधों को महँगी पड़ती है। फिर भी रासायनिक दृष्टि से दोनों भाँति के श्वसन में विशेष अन्तर नहीं।

बहुधा लोगों का मत है कि श्वसन में कार्बन-डाइ ऑक्साइड बनने के पूर्व कई रासायनिक क्रियाएँ होती हैं और ये परिवर्त्तन पहले दोनों ही तरह के श्वसन में एक-जैसे होते हैं। अन्तर केवल अन्त में जाकर पड़ता है। आख़िरी परिवर्त्तन के पहले बननेवाली वस्तु ऐसी होती है कि ऑक्सीजन मिलने पर इसका आसानी से ऑक्सीकरण हो जाता है, पर इसके अभाव में वह अल्कोहोल में बदल जाती है।

साधारण हरे पौधों में इन्ट्रामालीक्यूलर श्वसन बहुत कम होता है। ऐसे पौधे ऑक्सीजन न मिलने पर जीवित नहीं रह सकते। बैक्टिरिया और छत्राक समूह के पौधों में इस ढंग से श्वसन अधिक होता है।

वास्तव में श्वसन ऑक्सीकरण क्रिया है, जिसमें साधारण रूप से शकर का ऑक्सीकरण होता है, पर अपने आप पेड़ों के बाहर शकर का ऑक्सीकरण नहीं होता। इसलिए हमें मानना पड़ता है कि पौधों के अन्दर इस क्रिया के होने में कुछ वस्तुओं का अवश्य सहयोग है। ये वस्तुएँ जीवनमूलीन-रस है, जिन्हें हम प्रवर्त्तक कहते हैं। इनमें आक्सीडेज़, आक्सीजनेज़ और ज़ाइमेस मुख्य हैं। इन्हीं की सहायता से श्वसन होता है।

कार्बन-डाइ-ऑक्साइड निकलने के साथ-साथ साँस लेने की क्रिया में ताप भी बढ़ जाता है। इस बात को भी हम प्रयोगों से दिखा सकते हैं।

प्रयोग—दो थरमस बोतलें ले इनमें से एक में कुछ उगते चने-मटर या अधखिली कलियाँ रख दीजिए और दूसरी को यों ही रहने दीजिए। दोनों बोतलों की काग में छेद कर उनमें थर्मामीटर लगा कुछ समय के लिए एक

जगह रख दीजिए (चि० ४)। दस-बारह घंटे बीतने पर आप देखेंगे कि ख़ाली बोतल के मुक़ाबिले में दूसरी बोतल का ताप ४-५ डिग्री ऊँचा है। कलियों को प्रयोग में बर्तने पर सम्भव है ताप और भी ऊँचा चढ़ जाय।

श्वसन के उपकरण—श्वसन किन-किन बातों पर निर्भर है, इस सम्बन्ध में हमारा ध्यान सबसे पहले ऑक्सीजन की ओर जाता है; परन्तु जैसा आप देख चुके हैं, यह सब पौधों के लिए आवश्यक नहीं। कभी-कभी तो साधारण पौधों में भी इसके बिना श्वसन होता रहता है। कुछ छत्राक और बैक्टिरिया में तो सदैव ही ऑक्सीजन के बिना श्वसन होता है।

मामूली पौधों में एक विशेष सीमा के अन्दर ऑक्सीजन बढ़ने पर श्वसन भी बढ़ता है। इस सीमा के ऊपर मात्रा हो जाने पर ऐसा नहीं होता। ताप का प्रभाव श्वसन-क्रिया पर लगभग वैसा ही पड़ता है जैसा कि कार्बन-एसिमिलेशन पर। एक ख़ास सीमा के अन्दर ताप बढ़ने पर प्रत्येक १०°श० के लिए क्रिया दूनी हो जाती है। पर स्मरण रखना चाहिए कि साँस लेने की क्रिया में प्रवर्त्तकों का अधिक काम पड़ता है और इन पर ताप का असर भी अधिक पड़ता है। इससे अक्सर इस नियम में बड़ा हेरफेर पड़ जाता है।

किसी-किसी दशा में श्वसन में काम आनेवाले पदार्थों की मात्रा का भी क्रिया पर असर पड़ता है। यदि ये वस्तुएँ ज़रूरत से अधिक हों तब तो इनका श्वसन-क्रिया पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता पर यदि कहीं ये आवश्यकता से कम हों तो इनकी मात्रा के अनुसार ही श्वसन भी कम अथवा अधिक होता है।

रंध्र और श्वसन—वाष्प-त्याग और फोटोसिन्थिसिस के अध्याय में आप देख चुके हैं कि वायु और वाष्प रंध्रों से ही आती-जाती है। इस ढंग से ही श्वसन में आने-जानेवाली हवाएँ भी निस्सरित होती हैं। ज्यों-ज्यों पौधों के अन्दर के कोशों की हवा की ऑक्सीजन श्वसन में ख़र्च होती है उनमें अन्तर-तान्तविक-स्थानों की हवा से ऑक्सीजन पहुँचती है, जिससे यहाँ ऑक्सीजन का दबाव बाहर की हवा की अपेक्षा कम पड़ जाता है। इसलिए बाहर से ऑक्सीजन निस्सरित हो यहाँ आती है। जिस प्रकार ऑक्सीजन व्यय होने के कारण अन्तर-तांतविक-स्थानों में इस गैस का दबाव कम पड़ जाता है, उसी तरह श्वसन में कार्बन-डाइ-ऑक्साइड प्राप्त होने के कारण इनमें कार्बन-डाइ-ऑक्साइड का दबाव बढ़ भी जाता है। इसलिए यहाँ से यह गैस निस्सरित हो बाहर वायु में आती है। इस ढंग से इन गैसों का आना-जाना क़ायम रहता है। रंध्रों की तरह गौण नासिका-छिद्र (Lenticels) भी श्वसन में भाग लेते हैं।

चि० ४
श्वसन में ताप ऊँचा हो जाता है। बोतल में कुछ जखई किए गए बीज डाल दिए गए हैं, बीजों के श्वसन के कारण बोतल का ताप बाहर से ४°-५° अधिक हो गया है।(चित्र श्री० डी० कमठान द्वारा)

श्वसन-जड़ें—जैसा हम ऊपर कह चुके हैं, पौधों के प्रत्येक अंग को ऑक्सीजन की आवश्यकता रहती है। अतएव इनकी जड़ों को भी यह गैस मिलनी चाहिए। साधारण पेड़ों में ज़मीन के अन्दर मिट्टी के कणों के बीच की हवा से जड़ों के श्वसन का काम निकल जाता है, पर कुछ पेड़-पौधे दलदलों में उगते हैं। इनकी जड़ों को ऑक्सीजन मिलने में कठिनाई रहती है। ऐसी दशा में कुछ ऐसे पौधों में यह कमी श्वसन-जड़ों से पूरी हो जाती है।

श्वसन-जड़ें (Pneumatothodes) विशेष प्रकार की जड़ें हैं, जो साधारण जड़ों की प्रकृति के विपरीत नीचे को भूमि के अन्दर न जाकर ऊपर को उठती हैं और ज़मीन फोड़ बाहर हवा में निकल आती हैं (चि० ५-६)। इनमें ऊपर की हवा की ऑक्सीजन पहुँचती है, जिससे जड़ों के तन्तुओं को दलदलों में भी यह गैस मिल जाती है।

पशुओं और पौधों के श्वसन की तुलना—कुछ लोगों का ख़्याल है कि पौधों और पशुओं में श्वसन-क्रिया एक दूसरे के विपरीत होती है। अर्थात् पशुओं में श्वसन में ऑक्सीजन व्यय और कार्बन-डाइ-ऑक्साइड प्राप्त होती है, और पौधों में कार्बन-डाइ-ऑक्साइड व्यय और ऑक्सीजन प्राप्त होती है। यह भ्रम है। बात यह है कि पौधों में श्वसन के साथ में फोटोसिन्थिसिस होता रहता है, जिसमें ये कार्बन-डाइ-ऑक्साइड ग्रहण कर ऑक्सीजन त्यागते हैं। लोगों का ऐसा अनुमान इन दोनों क्रियाओं में भ्रम के कारण

चित्र ५—टैक्सोडियम डाइस्टाइकम (*Taxodium distichum*) नामक एक नग्नबीज पौधों के समूह का वृक्ष जिसमें श्वसन-जड़ें होती हैं। (फ़ोटो—श्री० डाक्टर के० विश्वास के सौजन्य से)

जिनका यह व्यापार ही है; ये सदैव ही इस भाँति साँस लेते हैं। साधारण श्वसन की तरह फरमेंटेशन में भी कार्बनिक पदार्थ ख़र्च होते हैं और शक्ति मुक्त होती है।

पुराने ज़माने में लोग फरमेंटेशन का अर्थ केवल आर्गैनिक वस्तुओं के सड़ने-गलने से ही लेते थे। इस तरह गन्ने के रस से सिरके का उठना, अंगूर या दूसरे मीठे फलों का सड़ना, ताड़ के रस से अल्कोहोल का बनना जैसी क्रियाएँ फरमेंटेशन में गिनी जाती थीं; पर अब सिद्ध हो गया है कि श्वसन की भाँति फरमेंटेशन

ही है। यथार्थ में पौधे भी वैसे ही साँस लेते हैं जैसे कि पशु-पक्षी। दोनों ही में साधारण दशा में ऑक्सीजन का शोषण, कार्बन-डाइ-ऑक्साइड तथा वाष्प का त्याग और ताप की वृद्धि होती है। दोनों ही में सम्भावित शक्ति गत्यर्थक शक्ति में परिणत हो जाती है। दोनों ही में क्रिया प्रवर्त्तकों की सहायता से होती है और इसके फलस्वरूप इनका वज़न कम पड़ जाता है।

फरमेंटेशन—फरमेंटेशन श्वसन से मिलती-जुलती एक क्रिया है, जो ऑक्सीजन के अभाव में होती है। यथार्थ में इसे ऐन-इरोबिक श्वसन ही समझना चाहिए।

जैसा ऊपर कह चुके हैं, किसी-किसी दशा में ऑक्सीजन के अभाव में भी पौधों से साँस लेने की क्रिया चालू रहती है। ऐसी दशा में पदार्थ तो अधिक ख़र्च होते हैं, पर शक्ति कम प्राप्त होती है। ऊँची श्रेणी के पौधों में, जिन्हें प्रायः ऑक्सीजन की कमी भी नहीं रहती, यह क्रिया कम होती है। यदि कहीं संयोगवश ऐसी समस्या उपस्थित हो गई तो इनका काम चलना कठिन हो जाता है। इसके विपरीत कुछ छोटे दरजे के उद्भिज हैं, जिनमें सिर्फ़ ऐन-इरोबिक ढंग से ही श्वसन होता है। इस प्रकृति-वाले जीवों के दो मुख्य समूह हैं। एक वे जो ऑक्सीजन न मिलने पर इस क्रिया की शरण लेते हैं और दूसरे वे

भी एक रासायनिक क्रिया है, जो प्रवर्त्तकों की सहायता से होती है और जिसमें कार्बनिक वस्तुओं का ऑक्सीकरण, कार्बन-डाइ-ऑक्साइड का त्याग और ताप की वृद्धि होती है। जिन उद्भिजों के जीवन-मूल के प्रभाव से यह क्रिया होती है वे इसके परिणाम में न केवल जीवित रहते हैं वरन् बड़ी तेज़ी से बढ़ते भी हैं। फरमेंटेशन उत्पन्न करनेवाले जीवों में यीस्ट का दरजा सबसे ऊँचा समझना चाहिए। ख़मीर, जिसे लोग डबल रोटी, बिस्किट या जलेबी वग़ैरह बनाने में काम में लाते हैं, सूखा यीस्ट ही है।

यीस्ट, जैसा आप पूर्व ही देख चुके हैं, न्यून श्रेणी के उद्भिजों में है। इस जीव की अनोखी साँस लेने की क्रिया ही के प्रभाव से ताड़ी से अल्कोहोल बनता है। जिस समय ताड़ से रस निकलता है यह स्वच्छ, मधुर और मादकता-रहित होता है। पर कुछ देर तक रखते ही इसमें यीस्ट की करतूत से फरमेंटेशन शुरू हो जाता है और शकर से अल्कोहोल बनने लगता है, जिससे इसमें मिठास की जगह कड़वापन आ जाता है। अब यह रस ताड़ का स्वच्छ गुणकारी रस नहीं, जैसा कि वह पेड़ से निकलते समय था, बल्कि दुर्गंधमय, विषैली, मनुष्य की बुद्धि भ्रष्ट कर पागल बना देनेवाली मदिरा है।

यीस्ट का यथार्थ पता तो हमें थोड़े ही दिनों से है, पर

फरमेंटेशन में इसका प्रयोग लिखित इतिहास के पूर्व से चला आता है।

फरमेंटेशन के उपकरण—फरमेंटेशन के लिए (१) खमीर, (२) वह वस्तु जिसमें फरमेंटेशन हो सके, और (३) यथार्थ ताप, इन तीनों की ज़रूरत रहती है।

प्रयोग—फरमेंटेशन ट्यूब या बोतल में शकर का शरबत भर थोड़ा खमीर डाल गर्म जगह में रख दीजिए (चि० ७)। कुछ समय बाद फरमेंटेशन शुरू हो जायगा और ट्यूब में गैस के बुलबुले उठने लगेंगे। ऐसा जान पड़ेगा कि शरबत उबल रहा है। अगर यह क्रिया कुछ समय तक चालू रक्खी जाय और जो गैस निकलती है उसकी जाँच की जाय तो पता लग जायगा कि यहाँ भी श्वसन की तरह कार्बन-डाइ-ऑक्साइड का त्याग होता है। ट्यूब के रस की जाँच करने पर उसमें अल्कोहोल मिलेगा। यदि क्रिया बहुत समय तक चालू रहे तो सारा शर्बत अल्कोहोल में बदल जायगा। ट्यूब के शर्बत के ताप की जाँच करने पर यह भी बाहर के ताप से कुछ ऊँचा मिलेगा। इस प्रकार इस प्रयोग से पता चलता है कि फरमेंटेशन में भी श्वसन की तरह कार्बन-डाइ-ऑक्साइड और गर्मी उत्पन्न होती है।

जब यह पता चला कि फरमेंटेशन में यीस्ट की आवश्यकता पड़ती है तो लोगों का ध्यान इस उद्भिज की ओर विशेष प्रकार से आकर्षित हुआ। कुछ दिनों बाद यह पता चला कि खमीर को कुचल-पीस तथा छान कर यीस्ट को निकाल देने के बाद भी छने जल में फरमेंटेशन उठाने का गुण रहता है। इससे लोगों को विश्वास होने लगा कि फरमेंटेशन पैदा करने का काम यीस्ट का नहीं, बल्कि यीस्ट से पैदा हुए एक व अधिक रसों का है। ये रस ही असली खमीर या प्रवर्त्तक हैं।

यीस्ट के कोशों से कम से कम तीन भाँति के प्रवर्त्तक निकलते हैं। ये प्रवर्त्तक अल्कोहोलेज़ (Alcoholase), इनवरटेज़ (Invertase) और माल्टेज़ (Maltase) हैं। आप पहले ही देख चुके हैं कि प्रवर्त्तक कई प्रकार के होते हैं। यथार्थ में ये प्रत्येक सजीव कोश में उत्पन्न होते हैं। इनकी प्रधान विशेषता यह है कि बिना इनमें स्वयं कोई परिवर्त्तन हुए ही ये दूसरी वस्तुओं में महान् परिवर्त्तन उत्पन्न कर सकते हैं।

वानस्पतिक प्रवर्त्तकों में साइटेज़ (Cytase) परम उपयोगी सिद्ध हुआ है। यह कोश-भित्तिकाओं के छिद्रोज को सड़ा-गला देता है। इसी प्रवर्त्तक की सहायता से इतने नाज़ुक कुकुरमुत्ते की जाति के पौधों की सूक्ष्म, सूत से भी महीन हाइफ़ी (Hyphee) बड़े-से-बड़े और कठोर-से कठोर वृक्षों की शाखों के पाषाणवत् तन्तुओं को फोड़ उनके अन्दर घुस अन्त में पेड़ को सुखा देती हैं।

पतझड़ में गिरनेवाली पत्तियों के अन्तिम संस्कार में भी प्रवर्त्तकों का ही हाथ रहता है। जिस जगह पत्ती का डंठल टहनी में लगा होता है, वहाँ के कोशों के पर्त इन्हीं प्रवर्त्तक की सहायता से गल जाते हैं, जिससे पत्ती हवा के झोंके के साथ अपने बोझ से दब अलग हो जाती है। बैक्टिरिया और छत्राक के प्रभाव से होनेवाली अनेक अद्भुत और आश्चर्य-जनक घटनाएँ भी इन्हीं रसों की बदौलत हैं।

प्रवर्त्तकों की क्रिया का ढंग—कोई तीन सौ वर्ष हुए होंगे कि इस बात का पता चला कि कुछ जीवन-क्रियाएँ

चि० ६—सुन्दरी वृक्ष *(Heritiera Minor)*

इस वृक्ष की खूँटे जैसी श्वसन-जड़ें बहुत क़रीब-क़रीब निकलती हैं, जिससे पेड़ के नीचे चलना कठिन हो जाता है। (फ़ो०—डा० के० विश्वास के सौजन्य से)

रसों की सहायता से होती हैं, पर इसके पहले लोगों की धारणा थी कि हमारे आमाशय में होनेवाली क्रियाएँ शरीर की गर्मी या पेट के अन्दर उत्पन्न होनेवाले तेज़ाबों के प्रभाव से होती हैं; अथवा भोजन में ही कुछ ऐसी वस्तुएँ होती हैं, जिनकी क्रिया से भोजन पच जाता है।

वैसे तो आज भी हमें प्रवर्त्तकों का यथार्थ ज्ञान नहीं। फिर भी पिछले तीस-चालीस वर्ष में जो कुछ पता लगा है उससे जान पड़ता है कि इन रसों की क्रियाएँ साधारण रासायनिक क्रियाओं जैसी नहीं हैं। जब कोई प्रवर्त्तक किसी वस्तु पर असर करता है तो न तो प्रवर्त्तक इस क्रिया में नष्ट होता है और न इसकी कम अधिक मात्रा से क्रिया की मात्रा का विशेष सम्बन्ध रहता है। यह अत्यन्त सूक्ष्म मात्रा में भी बड़े-बड़े परिवर्त्तन उत्पन्न कर सकता है। हाँ, एक बात अवश्य है कि अधिक प्रवर्त्तक मिलने से क्रिया का वेग बढ़ जाता है।

प्रवर्त्तक केवल वस्तुओं के विश्लेषण में ही भाग नहीं लेते वरन् इनके प्रभाव से अनेक पदार्थों का संश्लेषण भी होता है। इस तरह लाइपेज़ (Lipase) नाम का प्रवर्त्तक न सिर्फ़ वसा को मधुरीन और वसा-अम्ल में अलग-अलग ही करता है, वरन् उचित परिस्थिति में इन वस्तुओं से वसा का संश्लेषण भी करता है। इसी तरह अमाइलेज़ प्रवर्त्तक, जो स्टार्च को शकर में बदलता है, अनुकूल अवस्था पर स्टार्च का शकर से संश्लेषण भी करता है। आजकल वैज्ञानिकों का मत है कि प्रवर्त्तक अवलम्ब घोल के गुणवाले द्रव्य हैं, जो उत्प्रेरक रूप से क्रियाओं में भाग लेते हैं।

चि० ७—(श्री० डी० एस० कमठान द्वारा)

फरमेंटेशन इन्हीं उत्प्रेरकों के द्वारा होनेवाली क्रिया है। इस व्यापार के यथार्थ अभिप्राय के लिए हमें दूसरों के हानि-लाभ की ओर विचार न करके देखना चाहिए कि जिन जीवों के प्रभाव से यह क्रिया होती है, उनको इससे क्या हानि-लाभ है। इस विषय में हमें यह याद रखना चाहिए कि किसी भी जीव की जीवन-क्रियाएँ बिना सामर्थ्य के नहीं हो सकतीं। मनुष्य, पशु-पक्षी, कीड़े-पतिंगे तथा पेड़-पौधे सभी जीवों को काम-काज के लिए सामर्थ्य चाहिए। साधारण जीवों को यह शक्ति स्टार्च, शकर या दूसरे कार्बोहाइड्रेट्स के श्वसन से मिलती है, जिसके लिए ऑक्सीजन का मिलना ज़रूरी है। परन्तु कुछ ऐसे भी विचित्र उद्भिज हैं, जो बिना ऑक्सीजन मिले ही कार्बोहाइड्रेट्स, प्रोटीन, वसा आदि के विदारण से आवश्यकतानुसार शक्ति प्राप्त कर लेते हैं। इन जीवों के कोशों में फरमेंटेशन पैदा करने का गुण उनमें ऑक्सीजन के अभाव में श्वसन करने की विशेषता से है। अल्कोहोल तथा दूसरी ऐसी वस्तुओं की उत्पत्ति इस क्रिया में इसलिए हो जाती है कि ऑक्सीजन न मिलने से ऑक्सीकरण क्रिया सम्पूर्ण नहीं हो पाती।

फरमेंटेशन का हमारे जीवन और व्यापार से सम्बन्ध— फरमेंटेशन का हमारे जीवन और व्यापार से घनिष्ट सम्बन्ध है। अनेक मादक द्रव्य—अल्कोहोल, शराब, ताड़ी—का बनना इसी पर निर्भर है। सन का सड़ना, सिरके का उठना और तरह-तरह के अचार तैयार होना आदि क्रियाएँ विशेषकर फरमेंटेशन से होती हैं। ये क्रियाएँ प्रवर्त्तकों की सहायता से होती हैं। हमारे उदर की पाचन-क्रियाएँ भी इन्हीं प्रवर्त्तकों से होती हैं। यही नहीं, खेती और इससे संबंध रखनेवाले अनेक व्यवसायों में शायद ही कोई ऐसी क्रिया हो जिसमें इन प्रवर्त्तकों का हाथ न हो। जिस समय बीज उगते हैं इनमें संचित खाद्य पदार्थ प्रवर्त्तकों की सहायता से ठोस स्टार्च अथवा प्रोटीन से बदलकर घुलनशील शकर अथवा दूसरी वस्तुएँ बन जाते हैं और इस रूप में वे बढ़ते पौधों के काम आते हैं। जब आलू बोये जाते हैं तो इनकी आँखों से रस संचरित हो आलू में एकत्रित स्टार्च पर पहुँचते हैं और इसे घुला अंकुरित पौधे के अंगों में अटाते हैं। बीजों और फलों के पकते समय भी इन रसों द्वारा ही क्रियाएँ होती हैं। इसी भाँति मक्का, जुआर व दूसरे दानों के पौदा होने में शकर से स्टार्च की रचना इन्हीं रसों के प्रभाव से होती है।
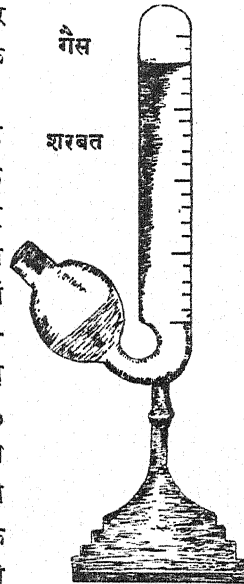
हमारे घी, दूध, मक्खन के व्यापार में भी इन रसों की ही कारवाही का हाथ है। दूध से दही, मक्खन तथा मट्ठे का बनना, पनीर का तैयार होना, इनमें मधुरता और स्वाद का आना आदि-आदि अनेक बातें इन्हीं रसों के प्रभाव से हैं।

इन्हीं के प्रभाव से मल-मूत्र अथवा मवेशीख़ाने की खाद-पाँस में परिवर्त्तन होते हैं, जिससे इन वस्तुओं में पौधों को लाभ पहुँचाने के गुण आ जाते हैं। भूमि के अन्दर की मुर्दा जड़ें और उसके ऊपर की सूखी घास-फूस और पत्तियाँ तथा गंदगलीज़ का सड़ना-गलना; अमोनिया,

नाइट्राइट्स तथा नाइट्रेट्स का तैयार होना; वायुमंडल की नाइट्रोजन का भूमि में आना आदि अनेक क्रियाएँ प्रवर्त्तकों के ही प्रभाव से होती हैं।

पेड़-पौधों का हमारे रहने के घरों और स्कूलों की हवा पर असर—प्रायः लोगों का अनुमान है कि यदि हमारे रहने के कमरों और घरों में पौधे हों तो रात में इनसे बाहर आई कार्बन-डाइ-ऑक्साइड के कारण वहाँ की हवा दूषित हो जाती है। यह धारणा केवल भ्रम है, जिसके मूल में दो मुख्य बातें प्रतीत होती हैं—एक तो यह कि ऐसे लोगों के विचार से कमरों का हवादार होना केवल इसीलिए है कि जिसमें कार्बन-डाइ-ऑक्साइड बाहर जा सके और उसकी जगह स्वच्छ हवा आ सके और दूसरी यह कि पौधों से रात्रि में इतनी अधिक कार्बन-डाइ-ऑक्साइड निकलती है कि इसका हमारे स्वास्थ्य पर बुरा प्रभाव पड़ सकता है। जाँच से पता चलता है कि मकानों का हवादार होना इसलिए इतना ज़रूरी नहीं कि इनके अन्दर की कार्बन-डाइ-ऑक्साइड बाहर चली जाय और उसकी जगह बाहर की हवा आ जाय जितना कि वहाँ की तरी और गर्मी को कम रखने के लिए। घरों में गर्मी और सीलन कम होने से हानिकारक कीटाणु भी कम पैदा होते हैं। तजुर्बे से यह भी पता लगा है कि यदि किसी जगह ताप और नमी अधिक न हो तो हवा में साधारण मात्रा से ५-१५ गुनी अधिक कार्बन-डाइ-ऑक्साइड हो जाने पर भी वह हमारे स्वास्थ्य के लिए हानिकारक नहीं होती। इसलिए हमारे घरों के थोड़े-बहुत गमलों व पौधों तथा स्वस्थ अथवा रोगियों के कमरों में ढंग से सजाये फर्न व गुलदस्तों वग़ैरह से स्वास्थ्य के बिगड़ने का कुछ भी भय नहीं।
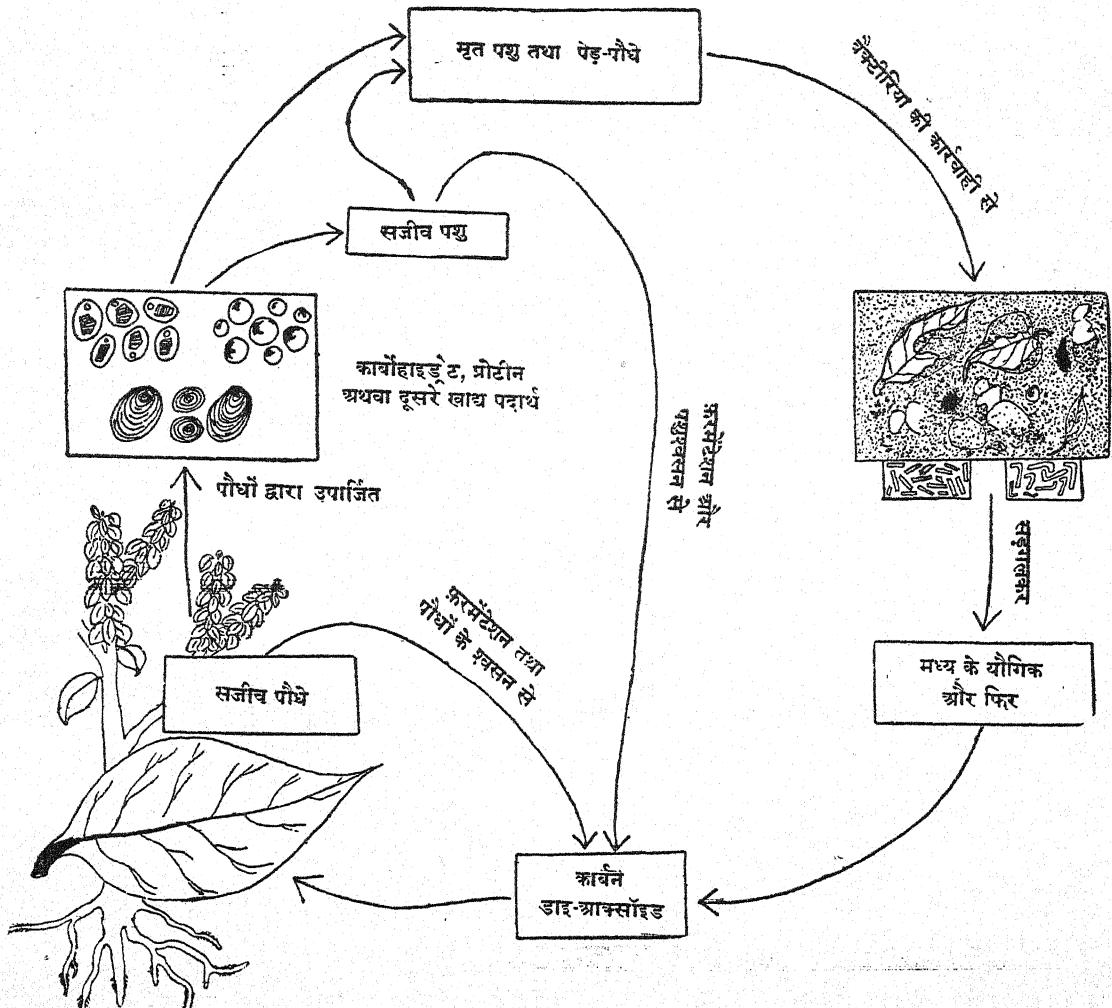
चि० ८—कार्बन-चक्र (मि० शमसुद्दीन द्वारा)
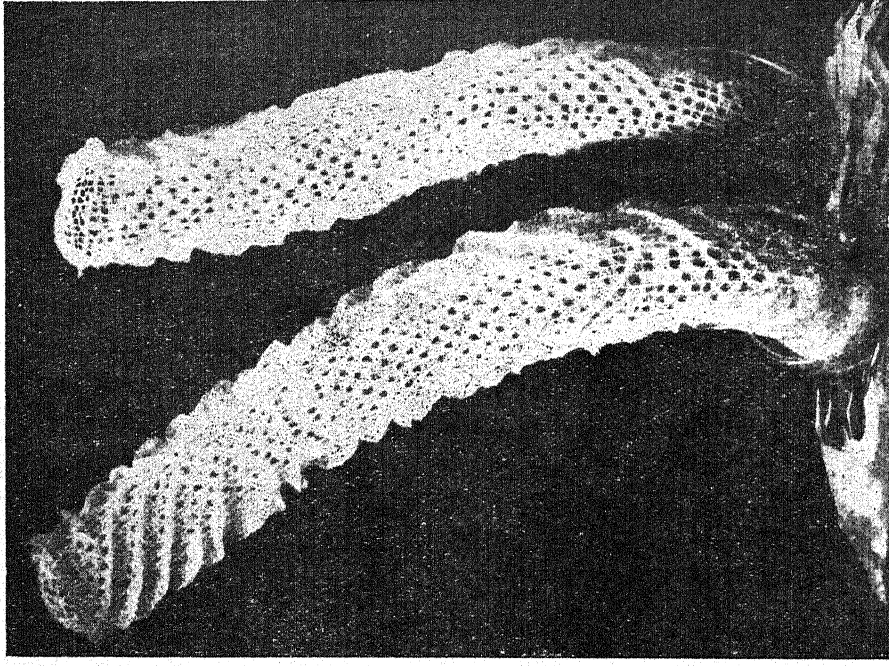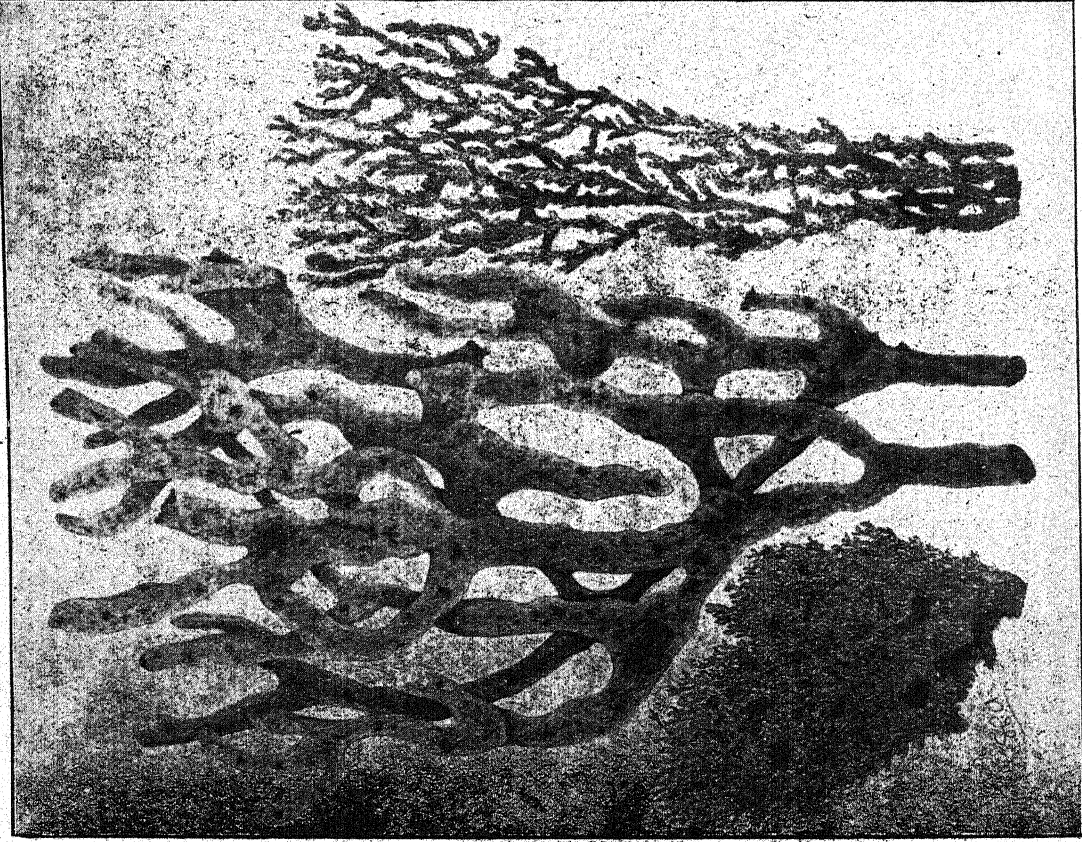
(बाईं ओर) हिन्द महासागर के पेड़-जैसे स्पंजों का एक समूह, जिसे लेखक ने ओखा बन्दरगाह में एकत्र किया था। क्या ये देखने में रेगिस्तान के पत्रविहीन पेड़ जैसे नहीं लगते? (ऊपर) गहरी जल-राशि में मिलने-वाले एक स्पंज—वीनस के फूलों की टोकरी—की मनोहर ठठरियाँ। काँच-से चमकदार, कड़े, लम्बे तथा महीन डोरों से बने ये खोल प्रकृति की कारीगरी के कैसे अद्भुत नमूने हैं! ये बेलनाकार खोखले जीव लगभग १ फ़ुट लम्बे होते और समुद्रतल में रेशों द्वारा गड़े रहते हैं।

पौधे, फूल और फल के-से कुछ समुद्री जीव

जिस प्रकार स्थल पर सैकड़ों प्रकार की भिन्न-भिन्न रूप-रंगवाली वनस्पतियाँ हैं, उसी प्रकार सागर के अथाह जल में भाँति-भाँति की सुन्दर वाटिकाएँ, फूल-फल और घास-पात छिपे हुए हैं; किन्तु स्थलीय और सागरीय वाटिकाओं में एक महान् अन्तर है। सागर के छँटे हुए पेड़ों में से बहुतेरे वास्तव में वृक्ष नहीं बल्कि जीवधारी हैं। यहाँ हम इन्हीं समुद्री खुम्मी, समुद्री देवदार, समुद्री पुष्प, समुद्री रसभरी और समुद्री खीरों का मनोहर वर्णन उपस्थित कर रहे हैं।

पौधों के-से जीव

स्पंज—बाज़ारों में बिकनेवाला स्पंज तो आपने देखा ही होगा। क्या आप यह भी जानते हैं कि वह एक प्रकार के समुद्री कीड़ों का शरीर है? यह तो केवल एक ही उदाहरण है, इस प्रकार के रंग-बिरंगे, विविध रूपधारी अनेकों बहुछिद्रीय जीव उथले तथा गहरे समुद्रों की तह में भरे पड़े हैं। प्रायः इनकी शाखाएँ टूटकर, बहुधा लहरों में बहकर सागर के किनारे पर आ लगती हैं। यदि आपको सागर-तट पर जाने का सुअवसर कभी प्राप्त हो तो आप स्वयं उन्हें किनारे की बालू पर पड़े हुए देख सकते हैं। विशेषतया गुजरात के ओखा बन्दरगाह के सामने के समुद्र-तट पर ये बहुत दिखलाई पड़ते हैं। इनका एक चित्र इसी पृष्ठ के सामने है। देखिए, वे आपको जानवर ही प्रतीत होते हैं या और कुछ! वे समुद्र की तह में चिपटे हुए एक ही जगह स्थिर रहते हैं। पेड़ों की ही तरह वे बढ़ते हैं तथा उन्हीं की तरह उनमें शाखाएँ फूटती हैं। उनका कोई टुकड़ा यदि अलग होकर गिर जाय तो वह वहीं जम जाता है और बढ़कर पूर्ण डील को प्राप्त करता है। उनकी पुनरुत्पत्ति की रीति भी वृक्षों-सी ही है। वे भोजन ग्रहण करते हुए भी नहीं दिखलाई पड़ते। फिर **वे जानवर क्योंकर हैं?**

यदि पहले के प्रकृतिवादियों ने इन्हें वनस्पति समझा था तो कोई आश्चर्य न था। १८वीं शताब्दी में बहुत-से लोग उन्हें कीड़ों का घर समझते थे, क्योंकि उनके भीतर कभी-कभी समुद्री कीड़े घुसे हुए पाए जाते हैं। जिरार्ड ने अपनी प्रसिद्ध 'जड़ी-बूटियों' की पुस्तक में स्पंजों को समुद्री घासों और खुम्मियों के साथ चित्रित किया है, और लिखा है "समुद्र के किनारे की चट्टानों पर झाग या फेन से बनी हुई एक वस्तु पाई जाती है, जिसे हम 'स्पंज' कहते हैं...इसके विस्तृत वर्णन से पाठकों को अधिक लाभ न होगा, क्योंकि उसका प्रयोग अच्छी तरह मालूम है।" पहले-पहल स्काटलैंड के रॉबर्ट ग्रान्ट ने इस बात को देखा कि समुद्र के पानी से छोटे-छोटे कण नन्हें सूराखों में होकर स्पंज की तह में घुस जाते हैं और बड़े छेदों से फिर बाहर निकल जाते हैं। इस जीवित फव्वारे से पानी की धार को तेज़ी से निकलते हुए और उसके साथ अपार-दर्शक टुकड़े इधर-उधर फैलते हुए देखकर ही उन्होंने यह सही अनुमान कर लिया था कि रोंगटों की ही क्रिया से उनमें पानी की धार बहती रहती है; लेकिन वे उन रोंगटों का पता न लगा सके थे।

स्पंज पेड़ क्यों नहीं हैं?

आजकल के जन्तु-शास्त्र के विद्यार्थियों से पूछा जाय कि **स्पंज को आप लोग पेड़ क्यों नहीं समझते** तो वे जवाब देंगे कि स्पंज जानवरों की तरह शरीर में बाहर से प्रवेश करनेवाले ठोस कणों को खाते हैं। उनके शरीर के कोष्ठों में वृक्षों की तरह काष्ठोज की भित्तियाँ नहीं हैं। वे बचपन की अवस्था में अन्य समुद्री जीवों के समान स्वच्छन्दता-पूर्वक तैरते रहते हैं। जलाए जाने पर स्पंज धीरे-धीरे सुलगते हैं, तेज़ी से नहीं जलते। जलते समय उनसे ऐसी ही गंध निकलती है, जैसी कि जलते हुए बालों और सींगों से। **पेड़-पौधों के जलने में यह बात कभी नहीं हो सकती।**

इसलिए वे पेड़ों जैसे दिखलाई पड़ने पर भी जानवर ही हैं। उन्हें हम 'उगनेवाले प्राणी' कहें तो अनुचित न होगा। यदि हम जानवरों के शरीर की तुलना नगरों से करें तो स्पंज वेनिस जैसे शहर के समान कहा जायगा जहाँ सब-कुछ नहरों पर निर्भर है। नहरों ही का जाल भोजन और तरावट इनके भीतर पहुँचाता है। इन्हीं से होकर कूड़ा-कर्कट और दूषित पदार्थ बाहर चले जाते हैं। उन्हीं के द्वारा शरीररूपी नगर के भिन्न-भिन्न भाग एक दूसरे से संसर्ग रखते हैं। साइकन स्पंज का जो चित्र बग़ल में दिया गया है उसे देखकर आप समझ सकेंगे कि यह कैसे होता है। इस साधारण स्पंज में बीच के चौड़े स्थान के चारों ओर छोटी-छोटी सुन्दर कोठरियों में कोड़ेदार कोष होते हैं, जिनके हिलने से पानी की धार बाहर से भीतर और भीतर से बाहर आती-जाती रहती है। जटिल स्पंजों की दीवालें बहुत मुड़ी हुई रहने के कारण पानी के मार्ग भी टेढ़े-मेढ़े हो जाते हैं और उनसे इधर-उधर नालियाँ फूट जाती हैं, जो सहायक द्वारों से मिल जाती हैं। स्वर्गीय प्रोफ़ेसर हक्सले ने अत्यन्त सुन्दरता से स्पंज की रचना का संक्षिप्त वर्णन एक वाक्य में इस प्रकार किया है "यह एक ऐसा जल-निमग्न नगर है जहाँ की जनता सड़कों-गलियों या नहरों-नालियों में इस प्रबन्ध से अवस्थित है कि प्रत्येक व्यक्ति अपने पास से होकर बहते हुए पानी से अपना भोजन आसानी से ले लेता है।"

साइकन स्पंज का चित्र, जिसमें उसके शरीर की नहरों का पारस्परिक सम्बन्ध दिखाया गया है। समुद्र का पानी इन्हीं नहरों में होकर शरीर के सब भागों को आहार पहुँचाता, और उन्हें साफ़ करता हुआ ऊपर के बड़े छेद से बाहर निकल जाता है।

स्पंज इतने विविध आकार और रंगों के होते हैं कि उनका कोई एक आकार नहीं कहा जा सकता। कोई खुम्मी की तरह गोल और डंडीदार होते तो कोई खोपड़ी-जैसे गोल होते और अलग इधर-उधर समुद्र में लुढ़कते रहते हैं। उनके रेशे ऐसे चीमड़ और लचीले होते हैं कि लहरों की चोट से टूटते नहीं। कोई स्पंज प्याले की शक्ल के होते हैं तो कोई सुराही की तरह, कोई उँगली के बराबर मोटी डंडीवाले पौधों की तरह तो कोई फ़र्न के समान महीन डंडीवाले होते हैं। एक अंग्रेज़ी कवि ने इनके विषय में एक कविता लिखी है। उसी के एक अंश का अनुवाद यह है—

"इंद्र-धनुष के विविध वर्ण,
अरु पौधों के अनन्त आकार।
नीचे स्पंज जलधि के तल पर
प्रगटाते यह सब आचार॥"

—'रसाल'

वीनस की फूलों की टोकरी

लेकिन स्पंजों में ही नहीं वरन् सागर के समस्त जीवधारियों में सबसे बाँका वह है, जिसे 'वीनस देवी के फूलों की टोकरी' या 'काँच का स्पंज' कहते हैं। ये सुन्दर जीव काँच के सदृश चमकीले महीन डोरों की बुनी हुई लम्बी टोकरी के रूप में गहरे समुद्रों की तह में लगे रहते हैं। क़द में वे २ इंच से लेकर २ फ़ीट तक ऊँचे होते हैं (देखिए पृ० १७६८ का दाहिना चित्र)। इस जाति के सबसे पहले मिलनेवाले स्पंजों में से एक की कहानी उल्लेखनीय है। जब सबसे पहला काँच का स्पंज जापान से योरप पहुँचा तो लोगों ने उसको जापान की कारीगरी का एक उत्कृष्ट

नमूना समझा। इसलिए महान् प्रकृतिवादी एहरेन-बर्ग ने उसको जापान की सौग़ातों के संग्रह में प्रधान स्थान दिया था। बाद में वह प्रकृति का दोहरा नमूना बतलाया गया अर्थात् मूँगे से जुड़ा हुआ एक स्वाभाविक काँच का झाड़। तब यह वहाँ से हटाकर प्राकृतिक वस्तुओं के अजायबघर में रख दिया गया। यहाँ भी वह उल्टा रक्खा गया, क्योंकि चतुर जापानी दूकानदार ने झाड़ के रेशों को मिलाकर एक मूँगे के टुकड़े से लगा दिया था। कई वर्षों के पश्चात् स्वीडन के प्रोफ़ेसर लूवाँ ने बतलाया कि इस वस्तु का एक भाग असली स्पंज है, जो उल्टा रक्खा हुआ है और दूसरा भाग मूँगा है! विलायत में इस प्रकार का जो सबसे पहला स्पंज पहुँचा वह ३० पौंड अर्थात् ४५०) रु० को बेचा गया था! इसका वृत्तान्त हमें सबसे पहले १८४१ ई० में मिलता है।

यदि आप किसी कड़े स्पंज के एक टुकड़े को कास्टिक पोटाश के घोल में उबालकर जो तलछट बचे उसको सूक्ष्मदर्शक यन्त्र में देखें तो आपको इन छितरे कोषों से बने हुए चिपचिपे शरीर को साधनेवाली निराली ठठरी दिखलाई पड़ेगी। भिन्न-

समुद्र में उगे हुए सीलैन्ट्रेट समूह के तीन साधारण वृक्षसम जीव
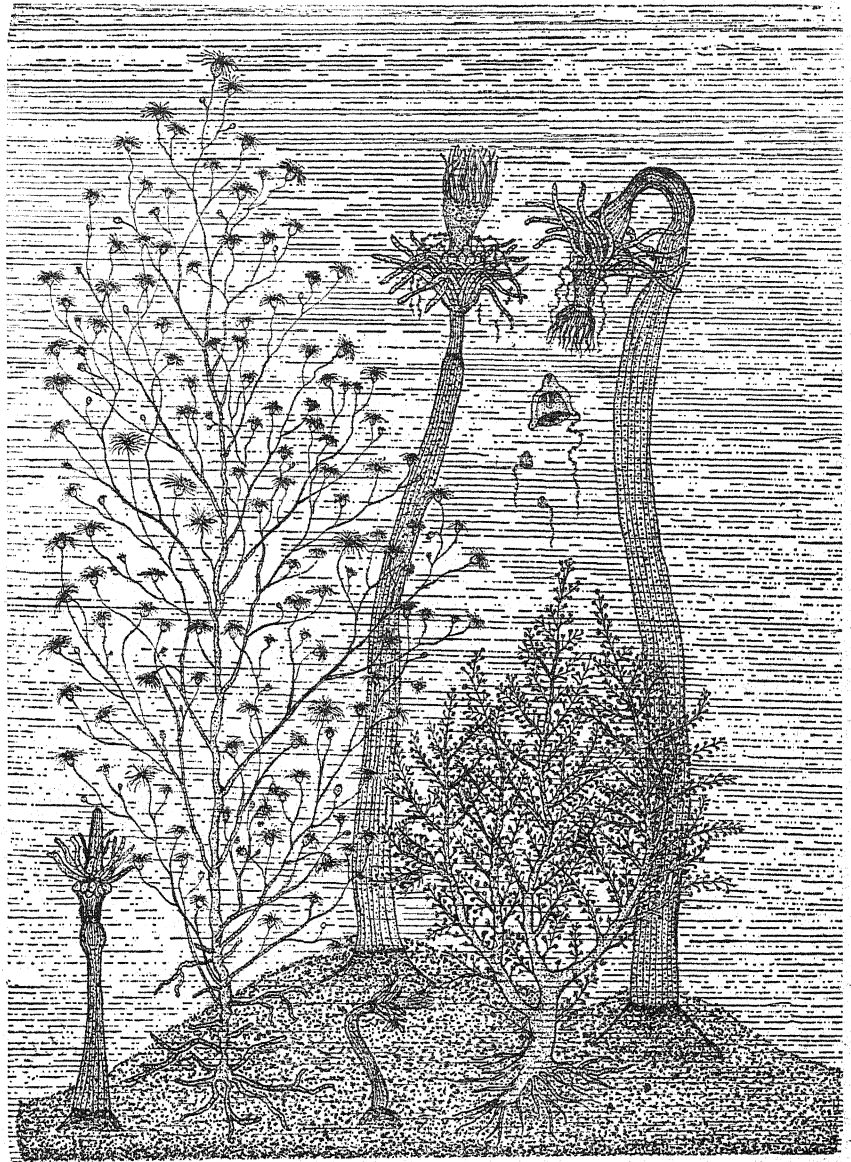
बाईं ओर यूडेन्ड्रियम नामक जन्तु का झाड़ है। इसमें जो फूल जान पड़ते हैं वे वास्तव में एक-एक जीव हैं जो एक-दूसरे से उँगलियों द्वारा जुड़े रहते हैं और पेड़ की तरह अंकुए फोड़ते और बढ़ते हैं। इन वृक्षतुल्य जीवों की जड़ें भी दिखलाई पड़ रही हैं जिनके द्वारा वे समुद्र की तह, चट्टान या अन्य वस्तुओं पर खड़े रहते हैं। इनकी ऊँचाई लगभग ६-७ इंच होती है। दाहिनी ओर कम्पैन्लेरिया नामक एक और छोटी जाति का वृक्ष-जैसा दिखाई पड़नेवाला जीव है। बीच-बीच में मोटी डंडीवाले कौरी-मार्फ़ा नामवाले प्राणी हैं। ये एक-एक अलग-अलग समुद्र में बालू के अन्दर अपने पेंदे को गाड़े हुए उठे रहते हैं। क्या वे आपको डंडीदार सुन्दर कमल के फूल जैसे नहीं जान पड़ते?

भिन्न स्पंजों में यह ठठरी तरह-तरह की कड़ी, नुकीली, चुभनेवाली शक्ल की होती हैं। कोई सुई की तरह नोकदार, कोई भाले की तरह, कोई त्रिशूल की भाँति, कोई लंगर के समान, कोई पहिए जैसी, कोई गोल किरणयुक्त, कोई दोहरे काँटेदार तथा अन्य बहुतेरे कँटीले नोकदार आकारों की होती हैं। **यही नोकीली, काँटेदार चीज़ें इन स्पंजों की उनके असंख्य शत्रुओं से रक्षा करती हैं।** नर्म जानकर जिसने एक बार इन पर मुँह मारा वह कभी इनकी ओर दोबारा आने का साहस नहीं कर सकता !

समुद्र-तट तथा जहाज़ के पेंदे पर उगनेवाला ओबीलिया नामधारी वृक्षीय जीव तथा उसके बच्चे और डंक मारनेवाले कोष। **ये नन्हें-नन्हें पौधों की भाँति झुंड में उगे रहते हैं और गर्मियों में नन्हें-नन्हें छाते या घंटियों जैसे सुन्दर बच्चे इनसे निकलकर समुद्र में तैरते फिरते हैं। ये पानी की तरह साफ़ होते हैं और उनका मुँह बीच में लटकनेवाली डंडी पर होता है। इनके डंक मारनेवाले कोष बग़ल के चित्र में दिखलाये गये हैं।**
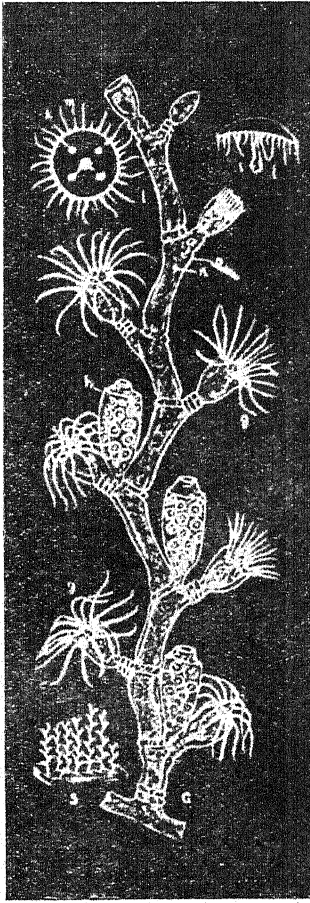
जन्तु-जगत् के ये सर्वप्रथम प्राणी हैं, जिन्हें बहुकोषक शरीर धारण करने में सफलता प्राप्त हुई, किन्तु ये बड़े साधारण और निम्न कोटि के जीव हैं। इनमें न तो बहुत-से भाग हैं, न सिर है न पैर और न कोई भीतरी अंग ही है। ये चलते-फिरते भी नहीं हैं। लेकिन जब कोई जिज्ञासु कीड़ा उनके पानी को बाहर निकालनेवाले सूराख़ में अपना सिर घुसेड़ता है तो कभी-कभी वह सूराख़ तेज़ी से सिकुड़ जाता है। इससे यह कहा जाता है कि मांस-पेशियोंवाले तन्तुओं का बनना उनमें आरम्भ हुआ है। उनकी एक और विचित्रता यह है कि स्पंजों में नाड़ीकोष भी नहीं होते और उनके पेशी-कोष नाड़ी-कोषों के प्रभाव के बिना ही उत्तेजित हो जाते हैं। इनमें सभी चीज़ों की प्रारम्भिक अवस्थाओं का दृश्य दिखलाई पड़ता है। भारतीय सागरों में सैकड़ों तरह के स्पंज मिलते हैं, लेकिन जो नर्म स्पंज बाज़ारों में बिकते हैं वे विशेषकर पूर्वी भूमध्यसागर और वेस्ट इण्डीज़ के द्वीपों में निकाले जाते हैं। सर्वश्रेष्ठ स्पंज टर्की से आते हैं।

डंक मारनेवाले वृक्ष-जैसे जीव— समुद्र के तट पर लहरें कम हो जाने पर पानी से भरे गड्ढों को ध्यान से देखा जाय तो उनमें बड़े-बड़े सुन्दर और अद्भुत जन्तुओं के समूह नज़र आते हैं। बहुतेरी चट्टानें तथा समुद्री पेड़-पौधे छोटे-छोटे लताओं-जैसे कोमल जीवों से आच्छादित दिखलाई देते हैं। चट्टानों के ऊपर इनकी जड़ें फैली रहती हैं और इनसे ६″ तक लम्बी पतली शाखाएँ फूटी रहती हैं मानों उन पर पोदीने जैसे पौधों की खेती हो रही हो। हर एक डंठल से बहुत-सी डालियाँ निकलती हैं, जिनके छोर पर एक मनोहर पुष्प-सा खिला हुआ जीव मुँह के चारों ओर पंखड़ियों की तरह अपने सींग फैलाए शिकार की ताक में डटा रहता है। कुछ शाखाओं में जड़ों के पास सुन्दर

कोष की चोटी पर बंदूक के घोड़े की तरह निकला रहनेवाला बाल जिसके ज़रा-से स्पर्शमात्र से कोष के

भीतर का डोरा झटके के साथ खुलकर सीधा बाहर निकल पड़ता है।

नीचे दिखाई गई पंखड़ी की पत्त काटकर उसके भीतर का दृश्य ऊपर के चित्र में प्रदर्शित है।
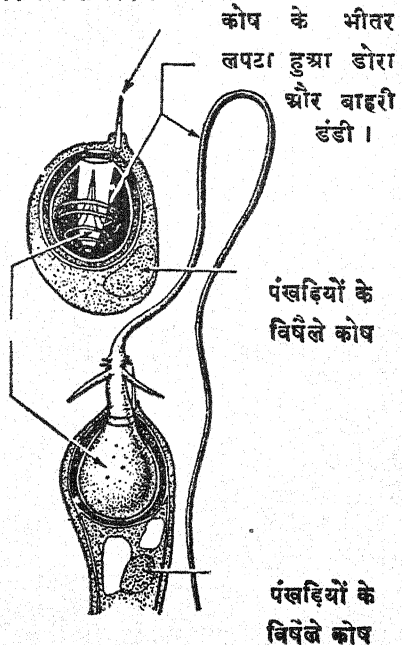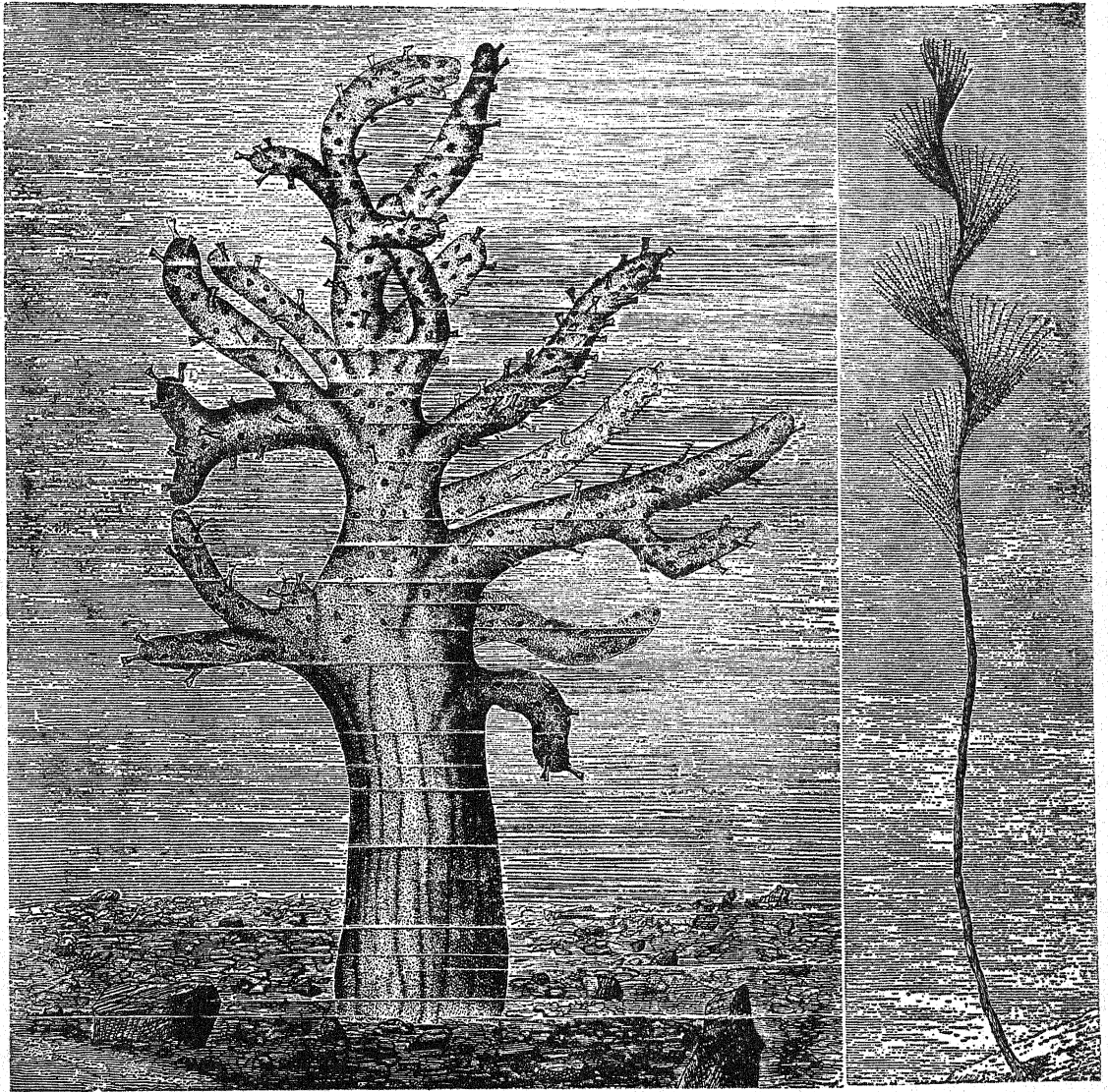
एक प्रकार का मूँगा—एलसियोनियम—और एक घुमावदार समुद्री पंखा। एलसियोनियम का निचला भाग बिल्कुल पेड़ के धड़ के सदृश है। उसकी शाखाओं पर नागफनी के-से जो फूल लगे हैं, वे सब एक-एक जीव हैं। दाहिनी ओर के समुद्री पंखे में मुख्य डंडी से जो महीन कोमल डालियाँ पेच की तरह घुमावदार ढंग से निकलती हुई नज़र आ रही हैं, वे घोड़े के बाल की तरह महीन होती हैं और प्रत्येक पर बहुत-से नन्हें-नन्हें जीव लगे होते हैं। जीवित अवस्था में इस पंखे की डंडी से अत्यन्त मनोहर सुनहली चमक निकलती है, जिसमें बहुत-से रंगों की झलक दिखलाई देती है।

की शक्ल के थैले होते हैं, जिनके भीतर प्याले के आकार के नन्हें-नन्हें बच्चे उत्पन्न होकर अथाह सागर में जा पहुँचते हैं। वहाँ वे स्वतन्त्रतापूर्वक तैरते फिरते अपना जीवन व्यतीत करते हैं, तथा अंडे देते हैं, जो बढ़कर बच्चों में परिवर्तित हो जाते हैं और चट्टानों से जाकर चिपट जाते हैं। इन्हीं से फिर नई शाखाएँ फूटकर सम्पूर्ण पेड़ बन जाता है।

पिछले पृष्ठ पर भारतीय सागरों में मिलनेवाले इसी प्रकार के दो वृक्षीय जीवों के चित्र बने हुए हैं।

ये सुन्दर कुसुमों के समान जन्तु और उनकी पंखड़ियाँ ऐसी सीधी-सादी और निर्दोष नहीं होतीं जैसी कि देखने में प्रतीत होती हैं। इन पंखड़ियों पर छोटे-छोटे असंख्य कोष होते हैं (दे० पिछले पृष्ठ का चित्र)। प्रत्येक कोष के अन्दर
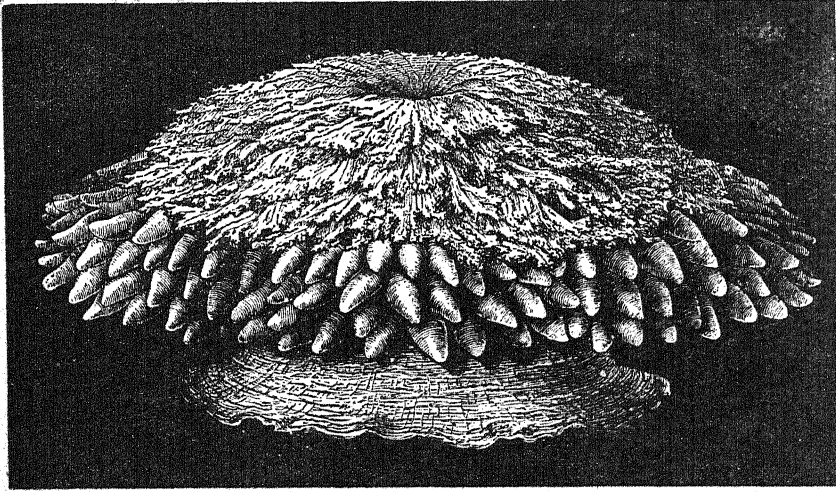
एक बड़ा समुद्री एनीमोन

इसी प्रकार का एनीमोन लेखक को द्वारिका के आसपास के सागर में मिला था। पूर्ण रूप से फैल जाने पर वह बड़े-से-बड़े सूर्यमुखी के फूल के समान हो जाता था और सिकुड़कर मुट्ठी-सा गोल हो जाता था। इस चित्र में चोटी पर बीच में इस जीव का मुँह है जिसके चारों ओर भालरदार नर्म पत्तियों जैसे पकड़नेवाले सींगों के कई वृत्त होते हैं। उनमें ऐसी आकर्षक लाल, हरे, नीले, सफ़ेद रंगों की धारियाँ और धब्बे होते हैं जिनका वर्णन करना असम्भव है। इनके नीचे गाजरों की शक्ल की मोटी भुजाओं के २-३ घेरे दिखाई दे रहे हैं। उनके भी नीचे नाटा, मोटा कुंडल जैसा जो भाग दिखाई पड़ता है वही इस जीवधारी की धड़ है।

एक महीन, लम्बा, खोखला डोरा लपेटा रहता है जिसके पेंदे में कई तेज़ काँटे होते हैं। कोष की चोटी पर बन्दूक़ के घोड़े की तरह एक छोटा-सा बाल निकला रहता है। यह इतना चैतन्य होता है कि ज़रा-सी ही रगड़ या हल्के-से स्पर्श से कोष के भीतर का डोरा झटके के साथ खुल-कर सीधा बाहर निकल पड़ता है। इतना ही नहीं, इन कोषों में थोड़ा-सा विष भी होता है। जब कोई दूसरा जीव आकर इनसे टकराता है तो यह कँटीले भाले तेज़ी से उनके तन्तुओं में घुस जाते हैं। छोटे जीव तो इनकी चोट खाकर शिथिल हो जाते हैं और मर भी जाते हैं, लेकिन बड़े प्राणियों में भी इनके कारण तेज जलन और खुजली पैदा हो जाती है। समुद्र में नहानेवाले मनुष्य कभी-कभी डंक मारनेवाले समूह के बड़े जीवों से टकरा जाते हैं और उनके महीन भालों की ऐसी चोट खाते हैं कि तिल-मिला उठते हैं। कभी-कभी इन सहस्रों विषैले डंकों के घुस जाने से शरीर पर छाले पड़ जाते हैं, जिनमें बड़ी जलन होती है।

पृष्ठ १८०२ पर ऐसे ही एक वृत्तीय जीव—ओबीलिया—का चित्र बना हुआ है। इसमें एक डंडी के जोड़ों से निकलते हुए दो प्रकार के जीव दिखलाई दे रहे हैं। एक प्रकार के जीव वह हैं जो डंडीदार गिलास जैसे हैं और जिनके छोर से महीन पंखड़ियाँ-सी निकली हुई हैं। इन पंखड़ियों पर ही इनके डंक मारनेवाले कोष रहते हैं और पंखड़ियों के बीच में इनका मुँह होता है। इन्हीं पंखड़ियों के द्वारा वे समुद्र से भोजन-सामग्री अपने मुँह में हड़प कर जाते हैं। दूसरी तरह के प्राणी पुष्प-पात्र की शक्ल के हैं जो डंडी और पंख-ड़ियोंवाले जीवों के बीच से निकले हुए हैं। इनके भीतर छोटे-छोटे गोल बच्चे भरे हुए हैं, जो मैडूसा कहे जाते हैं। जब यह बढ़-कर अलग हो जाते हैं तो पुष्प-पात्र के मुँह से निकलकर समुद्र में नन्हीं-नन्हीं कटोरियों की तरह तैरते फिरते हैं। बीच में उनका लटकता हुआ मुँह होता है। वे बहुत कुछ बग़ैर डंडी के नन्हें-से छाते से मिलते-जुलते होते हैं। वे अपने जन्मदाता स्थिर माता-पिता से कई गुना बड़े हो जाते हैं और अंडे भी देते हैं, जिनसे छोटे-छोटे बच्चे पैदा होकर फिर समुद्री वस्तुओं एवं चट्टानों में जा चिपटते हैं और पेड़ की तरह बढ़ते, शाखाएँ फोड़ते तथा कली देते हैं। कली देकर वे फिर वृत्तीय रूप धारण कर लेते हैं।

इन्हीं डंक मारनेवाले जीवों में मूँगे अथवा 'कोरल्स' भी सम्मिलित हैं, जिनमें अनेक जीव वृक्षों का तथा बहुतेरे फूलों का रूप धारण किए हुए सागर की शोभा बढ़ाते हैं। इनके कोमल शरीर पत्थर-जैसी कड़ी ठठरियाँ बनाकर समुद्र की तह में या चट्टानों पर गड़े रहते हैं और वहीं बढ़ा करते हैं। यह बड़ी आश्चर्यजनक बात है कि ये छोटे-छोटे जीव किस प्रकार जल से चूने को सोखकर इतने बड़े-बड़े ढेर बना लेते हैं कि उन पर मिट्टी आदि जमकर टापू तक बन जाते हैं। इनका भूतत्त्विक महत्त्व आप

इसी अंक के 'पृथ्वी की रचना' नामक स्तंभ के लेख से जान सकते हैं।

सागर के रंग-बिरंगे कुसुम

समुद्र के किनारे के पानी से भरे हुए पथरीले गड्ढों में मिलनेवाले जीवों में सबसे सुन्दर एनीमोन नामक प्राणी हैं। ये रंग-बिरंगे गुलदावदी, डहेलिया, सूर्यमुखी और गेंदे के फूलों की तरह अपनी मनोहर पंखड़ियों को फैलाये किनारे के छिछले जल में चट्टानों से चिपटे हुए या बालू में उगे हुए दीख पड़ते हैं। इसमें तनिक भी सन्देह नहीं कि अनजान मनुष्य उन्हें देखकर असली फूल ही समझेंगे। ये मनोहर पुष्प समस्त संसार के सागरों में बिखरे पड़े हैं, किन्तु समशीतोष्ण कटिबन्ध के किनारों के उथले जल में अधिकता से मिलते हैं। वहाँ वे बड़ी आसानी से दिखलाई पड़ते हैं। समुद्र का पानी उतरने पर ये बन्द हो जाते हैं और चमकदार हरी, लाल या सफ़ेद नर्म अंजीर तथा 'जेली' के गोल टुकड़ों के सदृश दिखलाई पड़ते हैं। ज्वार आने पर वे फिर खिल जाते हैं और उनकी विविध रंग की आकर्षक पंखड़ियाँ चारों ओर लहराती बल खाती हुई इठलाने लगती हैं। किसी-किसी एनीमोन की पंखड़ियाँ लम्बी और छितरी हुई और किसी-किसी की गेंदे के फूल की तरह छोटी, गुथी हुई, झालरदार होती है। कुछ एनीमोनों की डंडी छोटी होती है और कुछ ज्वार आने पर अपने कोमल सिरों को ५″-६″ तक ऊँचा उठा लेते हैं। पंखड़ियों के बीचो-बीच मुँह होता है। छोटी मछलियाँ, झींगे आदि जीव या मांस का कोई टुकड़ा समुद्र में बहते या तैरते हुए जब एनीमोनों की पंखड़ियों के बीच में आ जाते हैं तो उन्हें पता लगता है कि ये सुहावने फूल ऐसे सीधे नहीं जैसे कि वे जान पड़ते थे। पंखड़ियाँ अपने डंक मारनेवाले कोषों की सहायता से इन फुर्तीले जीवों को भी असहाय करके मुँह में ढकेल देती हैं और वे पेट में जाकर उनका भोजन बन जाते हैं। कुछ घंटों बाद एनीमोन फिर अपना मुँह खोलता है और खाये हुए भोजन का बचा हुआ भाग बाहर फेंक देता है!

एनीमोन का शरीर पानी से भरा रहता है और उसकी पंखड़ियाँ खोखली होती हैं। जब उसको अपनी पंखड़ियों को फैलाने की इच्छा होती है तब वह अपनी मांस-पेशियों को सिकोड़कर शरीर से पानी पंखड़ियों की नलियों में भेजने लगता है। ज्यों-ज्यों ये नलियाँ भरती जाती हैं पंखड़ियाँ फूलकर लम्बी हो जाती हैं और समुद्र में लहराती हुई बेख़बर जीवों को अपने फन्दे में फँसाने की प्रतीक्षा में रहती हैं। पंखड़ियों के छोर पर नन्हा-सा सूराख़ होता है, जो शरीर का पानी पिचकारी की तरह बाहर निकालकर सिकुड़ जाया करता है।

जैसा ऊपर कहा जा चुका है, एनीमोन के पेंदे चट्टानों से चिपटे रहते हैं और वे आसानी से उन्हें छोड़ते नहीं। लेकिन यदि वे चाहें तो चट्टान पर धीरे-धीरे सरक सकते हैं। कभी-कभी ये जन्तु छोटी नावें बनकर सागर की सैर करने का भी साहस करते हैं। चट्टानों से छूटकर वे तैरते हुए पानी के ऊपर आ जाते हैं और उल्टे हो जाते हैं; तब वे अपने शरीरों को ख़ाली करके छोटी नावों की तरह लहरों पर झकोरे खाते हुए दूर निकल जाते हैं और अन्त में किसी और नये चट्टानी चश्मे में जा बसते हैं।

इनमें कोई ऐसा भाग नहीं होता जो मस्तिष्क कहा जा सके। पंखड़ियों से कोई चीज़ छू जाने या टकरा

लिली के फूलों का एक गुच्छा

समुद्री जीवों में इन कुसुमाकारी जीवों से शायद ही कोई और अधिक सुकुमार और सुन्दर हो। ये क्रिनौइड काँच की तरह जल्दी से टूट जाते हैं और छेड़ने पर अपनी भुजाएँ झाड़ देते हैं। उनमें से कुछ सफ़ेद, कुछ बैंजनी, कुछ पीले और कुछ हरे होते हैं। गहरे समुद्र उनके जंगलों से भरे रहते हैं।
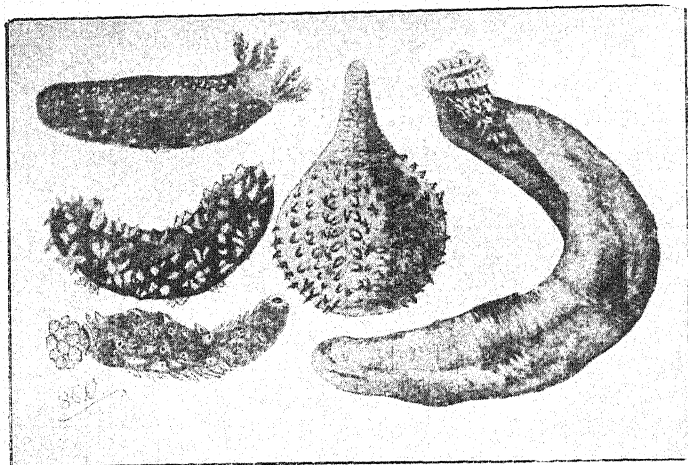
समुद्र के फलों के कुछ नमूने

ये खीरा, ककड़ी, गोल लौकी जैसी वस्तुएँ खायी भी जाती हैं। किन्तु ये फल नहीं वरन् जीव हैं। यह खीरा-सा जीव भी भारतीय समुद्रों से लाया गया था। ये जीव ५-६ इंच लंबे होते हैं। इसके बग़ल में जो ककड़ी-सा लम्बा जीव बना है, वह बड़े शौक़ से खाया जाता है। चीनी लोग इन्हें सुखाकर बेचते हैं और उनकी शोरवेदार तरकारी बनाते हैं। गोल लौकी समुद्र की दलदली मिट्टी में दबी रहती है, परन्तु अपना पतला भाग पानी के ऊपर निकाले रहती है। ये तीनों कंटकचर्मी समूह के प्राणी हैं।

इन्हें समुद्री लिली या पथरीली लिली कहा जाता है। किन्तु इनका वैज्ञानिक नाम क्रिनौइड है। कड़ी पथरीली तहों में ये अपनी डंडियों के सिरे से चिपटे रहते हैं, किन्तु दलदली तहों में डंटल के पेंदे से शाखाएँ फूट निकलती हैं और वृक्ष की जड़ों की तरह मिट्टी में धुसकर उन्हें साधे रहती हैं (दे० पृ० १८०१ का चित्र)। अधिकांश क्रिनौइडों के डंठलों में झुकने या लिपटने की विशेष शक्ति नहीं होती। लेकिन किसी-किसी के डंठल सीधे खड़े नहीं रहते बल्कि टेढ़े पड़कर नीचे को लटक जाते हैं। कुछ ऐसे भी हैं जो केवल एक ही ओर झुक पाते हैं। डंडीदार क्रिनौइड अत्यन्त प्राचीन जीवधारी हैं और वर्त्तमान काल में अधिक नहीं मिलते। किन्तु एक समय था जब वे सागरों में भरे पड़े थे। कहा जाता है कि आजकल की सब सितारा मछलियों का विकास इन डंडीदार प्राणियों से ही हुआ है। डंठल के पश्चात् सर्वविशिष्ट अंग उनकी भुजाएँ हैं जो पुष्प की भाँति डंडी के छोर पर सजी हुई दृष्टिगोचर होती हैं।

जाने से वे अपने आप सिकुड़ने लगती हैं और उस चीज़ को भोजन समझकर पकड़ लेती है। उनके पास कोई कंकड़ या लपेटा हुआ काग़ज़ ले जाया जाय तो वे उन्हें भी वैसे ही शौक़ से पकड़ेंगी जैसे किसी झींगे या मछली को। किन्तु यह भी बड़ी मनोरंजक बात है कि किसी एनीमोन को बहुत देर तक इसी प्रकार धोखा नहीं दिया जा सकता। इस धोखा-धड़ी का कुछ बार अनुभव हो जाने के पश्चात् वे इन धोखा देनेवाली वस्तुओं पर ध्यान नहीं देते। इससे यह पता चलता है कि ये मस्तिष्कहीन साधारण जीव स्वगामी जड़-यन्त्र के समान ही नहीं हैं वरन् वे कुछ शिक्षा भी ग्रहण कर सकते हैं और उसको थोड़ी देर याद भी रखते हैं।

एक और समूह के जीव समुद्रों में पाये जाते हैं, जिनमें बहुत-कुछ कमल या नरगिस के फूल की तरह लम्बी डंडियाँ होती हैं। पिछले पृष्ठ को देखिए, उसमें चित्रित वस्तु फूलों का गुलदस्ता जान पड़ता है या जीवों का समूह? जोड़दार कड़ी डंडीवाले ये सागर-निवासी कंटकचर्मी समूह के प्राणी हैं, जिसमें सितारा मछली भी सम्मिलित हैं।

ये सदा ५ या ५ से ही कटनेवाली संख्या में होती हैं और प्रत्येक भुजा से दोनों ओर पर की तरह नन्हीं-नन्हीं शाखाएँ या पत्तियाँ निकली रहती हैं, जो हमेशा ही मन्द गति से लहराया करती हैं। पानी के हिलने से क्रिनौइड पर सबसे पहला प्रभाव यह होता है कि वह अपनी नन्हीं-नन्हीं पंखड़ियों से चट्टान या पास की अन्य किसी वस्तु को पकड़ने की चेष्टा करता है। यदि भुजा के छोर का किसी दुःखदाई पदार्थ से स्पर्श करा दिया जाय तो वह ऊपर को उठ जाती है और उसकी पंखड़ियाँ ऐसे हिलने लगती हैं जैसे मक्खी की टाँगें अपने ही शरीर को साफ़ करते समय हिलती हैं। यदि इससे भी चैन नहीं मिलता तो दुःखी भुजा झुककर दूसरी ओर की भुजा के निकट पहुँच जाती है। तब इस दूसरी भुजा की भी पंखड़ियाँ उसको सहलाने लगती हैं!

क्रिनौइड रेंगकर एक जगह से दूसरी जगह जा सकते हैं। उनके भोजन में विशेष रूप से छोटे-छोटे झींगों जैसे जीव, उनके बच्चे, एककोषीय प्राणी तथा छोटी-छोटी वनस्पतियाँ सम्मिलित हैं, जिन्हें वे भुजाओं के बीच में ऊपर
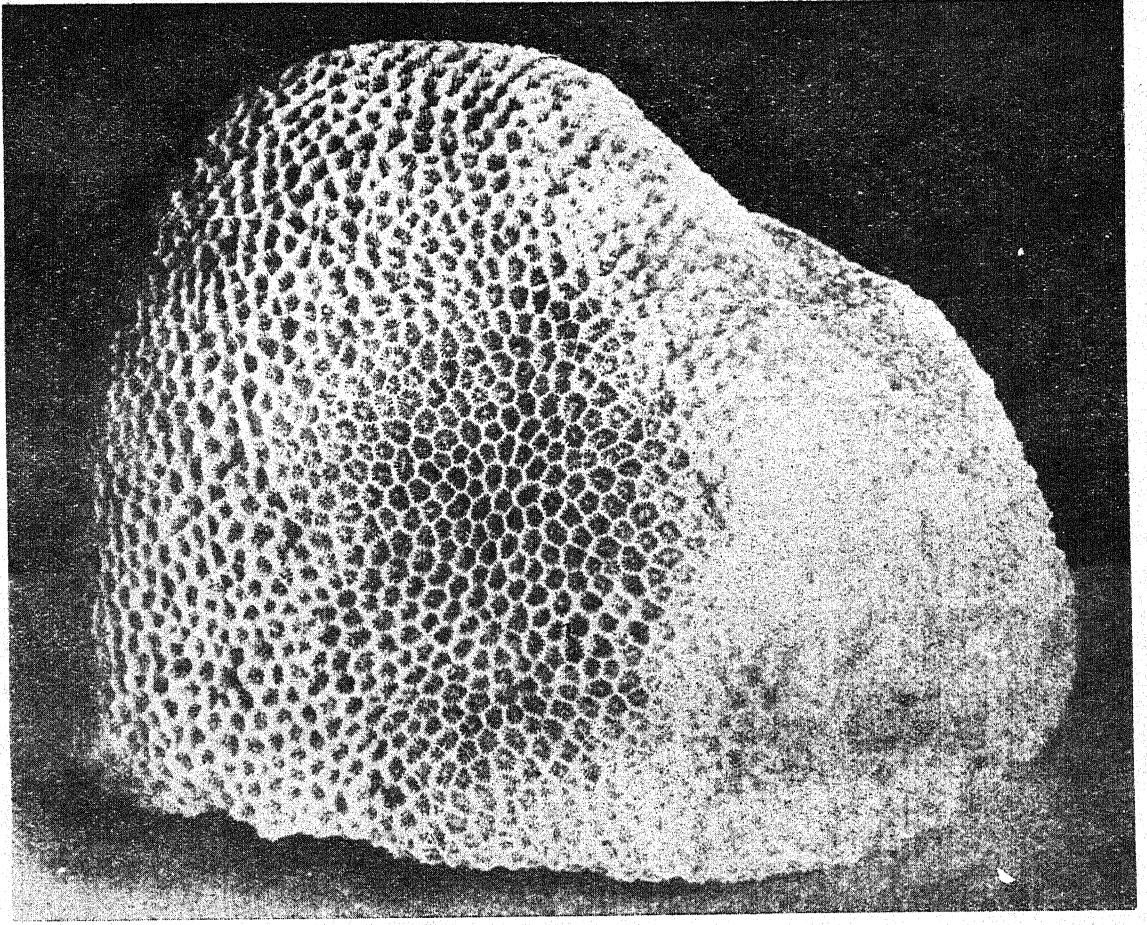
(ऊपर) प्रवाल-द्वीप का निर्माण करनेवाले मूँगे नामक जीवधारियों के कलेवर का एक चित्र। क्या कोई यह अनुमान कर सकता है कि यह किन्हीं प्राणियों के त्यागे हुए शरीरों के अवशेष का समूह होगा ?
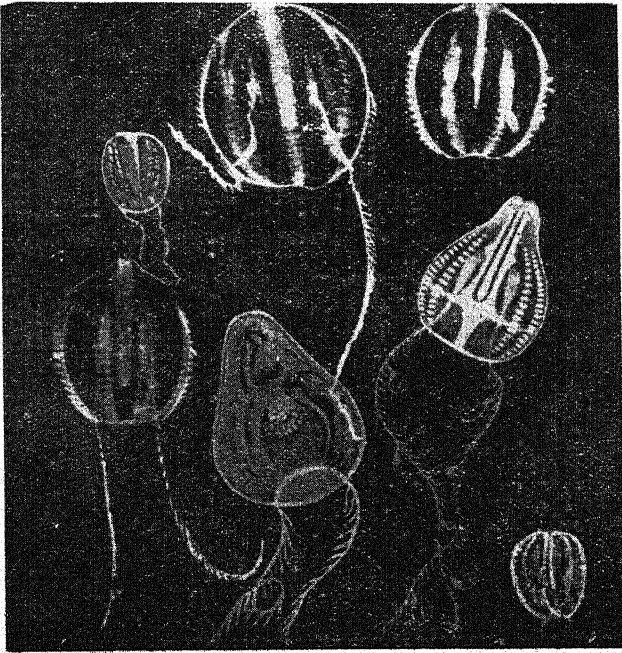
(बाईं ओर) झरबेरी, रसभरी या करौंदे की तरह दिखाई पड़नेवाले असंख्य चमकदार, सफ़ेद और पारदर्शक जीवों में से कुछ के नमूने जो समुद्र पर तैरते रहते हैं। इनका वर्णन पृष्ठ १८०८ पर पढ़िए।

को उठे हुए मुँह से खा जाते हैं। आजकल क्रिनौइड सभी समुद्रों में १०० गज़ से लेकर ६४०० गज़ की गहराई में पाए जाते हैं। उन्हें स्वच्छ और शान्त जल ही अधिक पसन्द है। डंडी और बिना डंडीवाले क्रिनौइड दोनों ही प्रायः झुंड बनाकर एक साथ रहते हैं। इसका कारण यह नहीं है कि वे सामाजिक जीवन के आदी हैं, वरन् यह है कि बचपन में भी उनमें ज़्यादा चलने-फिरने की शक्ति नहीं होती।

सागर के फल

पौधे और फूलों के अलावा कुछ समुद्री जानवर ऐसे हैं, जो फलों के सदृश होने के कारण उन्हीं के नाम से पुकारे जाते हैं, जैसे—समुद्री खीरे, समुद्री ख़रबूज़े, समुद्री नींबू, समुद्री रसभरी और समुद्री अंगूर। वास्तव में ऐसे ही बहुत-से हास्योत्पादक नाम जनता ने इनके रख लिये हैं कि जिनको सुनकर बहुत धोखा होता है।

जो जीव समुद्री खीरे-ककड़ी के नाम से प्रसिद्ध हैं वे वास्तव में उसी कन्टकचर्मी समूह के प्राणी हैं, जिसमें सितारा मछली और समुद्री नरगिस भी सम्मिलित हैं। अधिकांश समुद्री खीरे कीचड़ या बालू में घुसे रहते हैं, कुछ समुद्र के पेंदे पर रेंगा करते हैं और कुछ ऐसे भी हैं जो चट्टानों की दरारों में छिपे रहते हैं। इनकी पानी की सतह पर तैरनेवाली भी एक उपजाति पाई जाती है। इनके मुँह को घेरे हुए दस सींग होते हैं, जो किसी-किसी में सीधे और छोटे होते हैं तथा किसी में सुन्दर शाखामय होते हैं। उनकी लम्बाई ३″-४″ से लेकर २′ या इससे भी अधिक होती है। उनके सामने जो कुछ भी आ जाय, चाहे वह जीवित हो अथवा मृत, उसे वे खा लेते हैं; हाँ, वह पदार्थ इतना बड़ा न हो जो उनके मुँह में न जा सके।

इनके सम्बन्ध की एक बात ध्यान देने योग्य है। इनके शरीर के पिछले द्वार के पास एक पेड़ की तरह शाखा-युक्त साँस लेने का अंग होता है, जिसमें सदा रक्त बहा करता है और उसकी दीवालों में होकर ओषजन सोखता रहता है। इस ओषजन को जुटाने के लिए थोड़ी-थोड़ी देर में सागर का जल अन्दर खींच लिया जाता है और ओषजन खिंच जाने पर वह फिर बाहर निकाल लिया जाता है। कहा जाता है कि फ़िरैस्फ़र नामक मछली, जो फ़ीते की तरह चपटी, पतली और लगभग ६″ लंबी होती है, पानी की लहर के साथ इस सूराख़ द्वारा इनके शरीर में घुस जाती है। अन्दर ही अन्दर घूमकर सूराख़ से अपना मुँह बाहर निकाल यह चालाक मछली शिकार की घात में बैठी रहती है। कुछ लोग इस अनोखी कहानी पर विश्वास नहीं करते।

कुछ समुद्री खीरे अथवा ककड़ियों को लोग बड़े शौक़ से खाते हैं और मलाया के द्वीपसमूह, न्यूगिनी और कैलीफ़ोर्निया के किनारे के समुद्रों में वे काफ़ी संख्या में जुटाई जाती हैं। चीनी तो उन्हें अत्यन्त स्वादिष्ट भोजनों में गिनते हैं।

जल के विशाल जगत् में सहस्रों ही जीव उछलते, कूदते, तैरते, धड़कते, चमकते और नाना प्रकार की क्रीड़ाएँ करते, किन्तु अंग्रेज़ी में जो जीव आमतौर से 'समुद्री गूज़बेरी' के नाम से पुकारे जाते हैं वे अपनी अनोखी सुशीलता, सुकुमारता और सुन्दरता में इन सबसे बढ़े-चढ़े हैं। इनमें से कुछ का आकार और क़द झरबेरी, रस-भरी, करौंदे का सर जैसा होता है। उनके शरीर इतने चमक-दार, सफ़ेद और पारदर्शक होते हैं मानों सुन्दर काँच के बने हों। यदि आप गर्मी के दिनों में, जब समुद्र का जल शान्त और साफ़ हो, नाव पर बैठकर किनारे से थोड़ी दूर जाएँ और नाव से झुककर पानी को देखें तो ये मनोहर, चमकदार, बिल्लौरी रसभरी-ऐसे समुद्र-फल आपको अवश्य ही इधर-उधर तैरते हुए दीख पड़ेंगे। हथेली पर उठा लेने से वे खूबानी की तरह गुदगुदे, सफ़ेद नर्म काँच के बने हुए छोटे गोले-जैसे जान पड़ते हैं। इनके कोमल, मनोहर शरीर पर मांस-पेशियों की आठ महीन धारियाँ होती हैं, जिनमें कंघी के दाँतों की तरह महीन-महीन रोएँदार रेशे निकले रहते हैं और बड़ी ही ख़ूबसूरती से लहराते हुए नज़र आते हैं। इन्हीं की गति से ये काँच के गोले इधर-उधर चलते-फिरते हैं।

इन नाज़ुक जन्तुओं के शरीर में ६८% पानी होता है। दिन में प्रकाश की किरणें उन पर टकराकर मुड़ जाती हैं और फटकर नये-नये मनोरम हरे, लाल, नीले, बैंजनी रंगों में बँट जाती हैं। इससे भी शानदार बात यह है कि इनमें से बहुत-से रात को भी चमकते हैं और हल्की बैंजनी रोशनी फेंकते हैं। यह धारणा हो सकती है कि ऐसे कोमल सुन्दर आकाशी जीवों को, जिनका देखना भी कठिन है, भारी भूख न लगती होगी। किन्तु बात बिल्कुल उल्टी ही है। अन्य अनेक जीवधारियों के समान ये भी मांसाहारी हैं और सिन्धु की सतह पर विचरनेवाले प्रत्येक प्रकार के जीवों पर, जिन्हें वे निगल सकते हैं, बड़ी लालच से आक्रमण करते हैं।
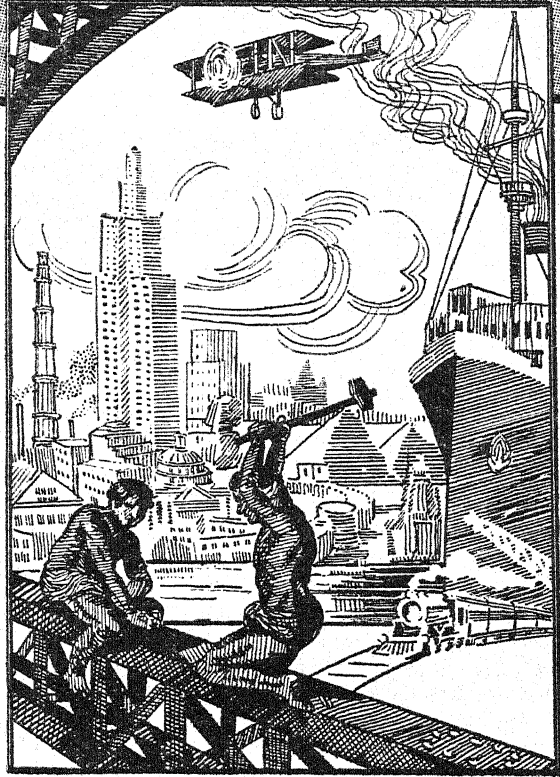
मनुष्य की कहानी
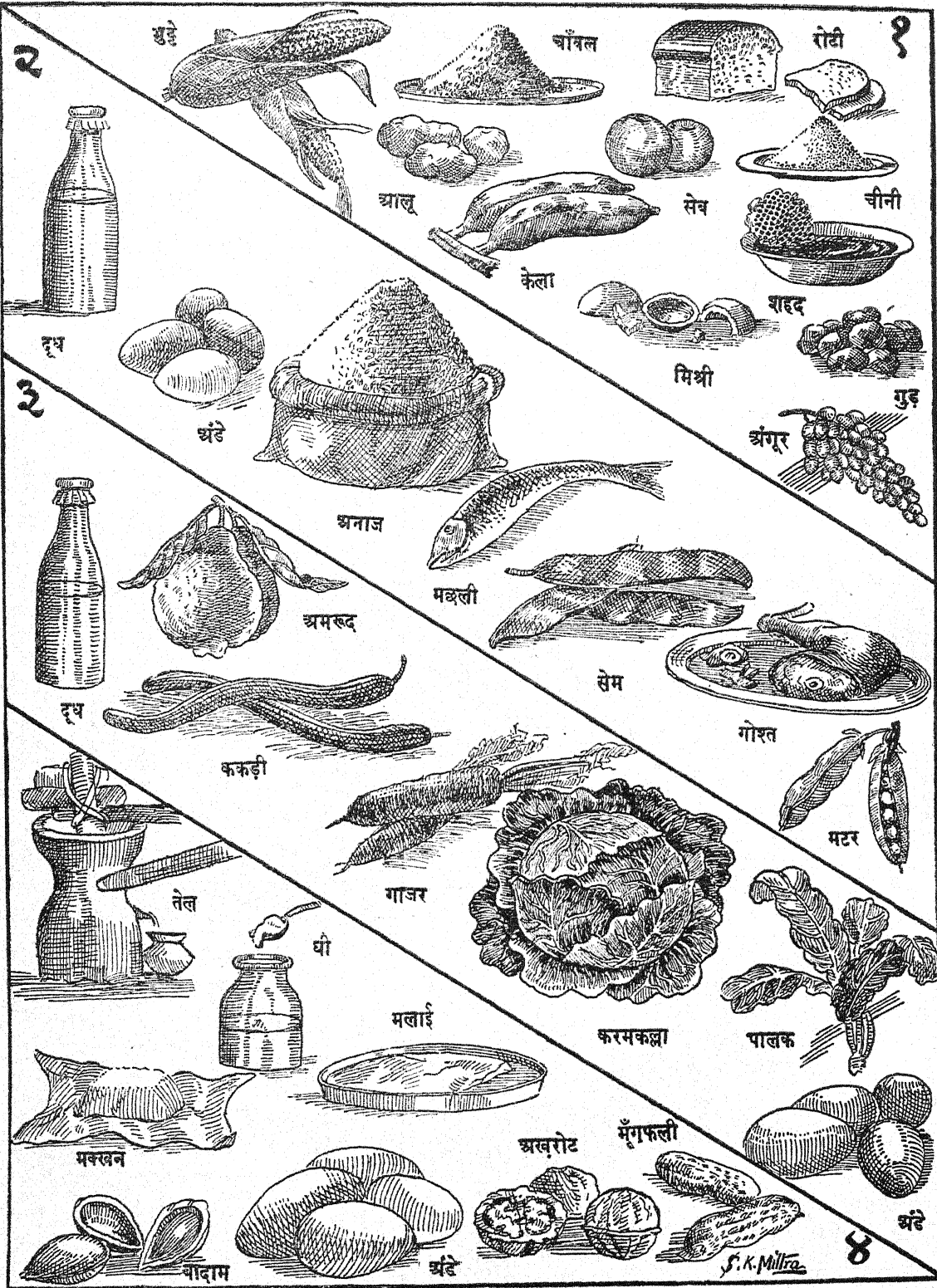
मुख्य खाद्य पदार्थ तथा शरीर के निर्माण में उनका भाग

१—दो प्रकार के अग्निदायक भोजनों के कुछ साधारण नमूने। २—तन्तुवर्द्धक प्रत्यामिनों का समूह। ३—खनिज पदार्थ देनेवाले खाद्य। ४—विटामिन या खाद्योजदायक आहार।
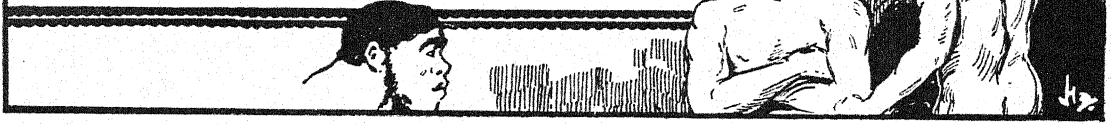
खाद्य पदार्थ और उनका पाचन

पिछले लेख में पाचन-संस्थान, अन्न-प्रणाली और कुछ ग्रन्थियों का वर्णन कर चुकने के पश्चात् अब हम खाद्य पदार्थों के पाचन और समीकरण का विस्तृत विवरण आपके सम्मुख उपस्थित कर रहे हैं। यह तो हम पहले ही कह आए हैं कि भोजन-सामग्री जिस दशा में खाई जाती है उसी दशा में शरीर में नहीं पहुँच सकती। भोजन-पदार्थ शरीर के उपयोग में तभी आ सकते हैं जब वे तन्तु-झिल्ली के अन्दर से निकल जाने-वाले घुलनशील रूपों में परिवर्तित हो जायँ और आमाशय तथा आँतों की दीवालों के भीतर से जाकर रक्त में मिल जायँ। पाचन-क्रिया का उद्देश्य यही है कि सभी प्रकार के अघुलनशील और ठोस खाद्यों को तोड़-फोड़कर घुलनशील रूप में बदल दे और उन्हें शोषण के योग्य कर दे, जिससे वे रक्त में मिलकर शरीर के सब भागों में पहुँचकर उनके पालन-पोषण में सहायता दे सकें।

अन्न-मार्ग में जगह-जगह पर कई ऐसे कारख़ाने हैं जिनसे तरह-तरह के पाचक रस निकलकर खाद्य पदार्थ की लम्बी यात्रा में उससे आ मिलते हैं और उस पर अपना प्रभाव डालते हैं। इस लेख में हम मुख्य रूप से इन्हीं का हाल बतलायेंगे; किन्तु इसके पहले यह आवश्यक जान पड़ता है कि भाँति-भाँति के आहारों और उनके रसायन का कुछ हाल बतला दिया जाय।

आहार के प्रकार और उनका रसायन

खाद्य पदार्थ तीन मुख्य समूहों में विभाजित किये जाते हैं—(१) कर्बोदेत, (२) प्रत्यामिन और (३) वसा या चर्बी। इनके अतिरिक्त कुछ खनिज लवण, खाद्योज (Vitamin) और पानी भी खाद्य ही में शामिल हैं।

कर्बोदेत—खाने की सामग्री में इनका अधिक भाग होता है। कम-से-कम भारतवर्ष तथा अन्य देशों के शाका-हारियों में तो भोजन-सामग्री का मुख्य भाग कर्बोदेत ही होते हैं। ये कई प्रकार के होते हैं तथा वनस्पतियों से इनकी अधिक मात्रा प्राप्त होती है। शक्कर, निशास्ता, श्वेतसार, मांड़ इत्यादि इनमें मुख्य हैं। आलू, चावल, गेहूँ तथा जौ प्रधानतया स्टार्चयुक्त पदार्थ हैं। स्टार्च पौधों द्वारा एकत्र किये गए आहार हैं जिन्हें वे आगे चलकर या तो अपने काम के लिए या बीज (बच्चों) के लिए इस रूप में जमा करते हैं। आलू की गाँठ अपने पौधे का भांडार है जिससे फूटे हुए अंकुवे जब तक बढ़कर सूर्य से अपने लिए शक्ति खींचने योग्य नहीं हो जाते तब तक इसी भांडार पर निर्भर रहते हैं। गेहूँ, जौ, जई, मक्का, बाजरा, चावल आदि अनाज पौधों के बीज हैं, जिनमें जमा की हुई भोजन-सामग्री को आटा, रोटी, हलवा, खिचड़ी, चबैना इत्यादि के रूप में हम ग्रहण करते हैं। यही वे सस्ते भोजन हैं, जिनसे हम अपने पेट को भरकर शारीरिक यंत्रों को चलाने के लिए ईंधन प्राप्त करते हैं। मनुष्य इन्हें पकाने के बाद ही आसानी से पचा सकता है, लेकिन अन्य जानवर—गाय, घोड़ा आदि—उनको कच्चा ही पचा लेते हैं।

शक्कर गन्ने और खजूर में बहुत पाई जाती है, किन्तु चुकन्दर तथा अन्य बहुत-से फलों में भी मिलती है। यह सब पेड़ों और फलों के रसों में पाई जाती है। यदि यह कहा जाय कि शक्कर पेड़ों में एक जगह से दूसरी जगह जानेवाला भोजन है तो अनुचित न होगा। श्वेतसार पानी में नहीं घुल सकता, परन्तु शक्कर घुल जाती है। इसलिए जब अघुलनशील स्टार्चों को भांडारों से कहीं ले जाने की आवश्यकता होती है तो पौधे थोड़े-से हेर-फेर से उन्हें शक्कर में बदलकर जल में घोल एक जगह से दूसरी जगह ले जाते हैं और अपने कोषों को जिस जगह ज़रूरत होती है वहीं उसे सौंप देते हैं।

मिश्री, गुड़ और चीनी ख़ालिस अग्नि-उत्पादक वस्तुएँ हैं। पानी निकल जाने के कारण इनमें बेकार बच रहने-वाला पदार्थ नहीं होता। ३-४ चम्मच दानेदार शक्कर

या मिश्री के ३-४ बड़े टुकड़ों में ही हमको इतनी अग्नि-दायक सामग्री मिल जाती है जितनी कई सेर स्टार्चवाले आहारों के खाने पर मिलती है। फलों में पानी का भाग अधिक होता है, इसलिए उनका अग्नि-उत्पादक मूल्य कम होता है; किन्तु जब उनका पानी सूख जाता है तो उनकी यह बहुमूल्यता फिर बढ़ जाती है, जैसे किशमिश, मुनक्के, ख़ूबानी में। शहद मधुमक्खियों का संगृहीत ख़ज़ाना है जिसको वे अपने छत्ते में इकट्ठा करती हैं; जिस प्रकार हम अपने बचे हुए धन को बैंक में जमा कर देते हैं और ज़रूरत के समय ख़र्च करते हैं, उसी प्रकार मक्खियाँ जमा किए हुए शहद का प्रयोग करती हैं। कर्बोदेत तीन तत्त्वों—कार्बन, ओपजन और उद्जन—के संयोग से बनते हैं। उद्जन के परमाणुओं की संख्या ओपजन के परमाणुओं से दुगनी होती है। इन यौगिकों में सबसे अधिक प्रयोजनीय वे समझे जाते हैं जिनमें कार्बन के ६ परमाणु हों। ये तीन समूहों में बाँटे जाते हैं। पहला—इक-शर्करिद; जैसे—फलोज, दुग्धस्योज, द्राक्षोज इत्यादि। दूसरा—द्वि-शर्करिद; जैसे—यवोज और इक्षु-शर्करा। तीसरा—बहु-शर्करिद; जैसे—निशास्ता, दक्षिणिन आदि।

कर्बोदेत के यौगिक चाहे किसी रूप में भी खाए जायँ अन्नमार्ग में इक-शर्करिद में परिवर्त्तित होकर ही रक्त-पेशिकाओं में पहुँचते हैं। पहले बनाए हुए तीनों प्रकार के इक-शर्करिद सहज ही एक दूसरे में बदल जाते हैं। किसी एक का घोल कुछ दिन रख छोड़ा जाय तो उसमें तीनों ही प्रकार के इक-शर्करिद मिलते हैं। जब हम कर्बोदेत खाते हैं तो वे इन्हीं यौगिकों के रूप में आँतों की श्लैष्मिक कला के कोष्टों में शोषित हो रक्त-प्रवाह में पहुँचते हैं। रक्त में अवकीर्ण होनेवाली शर्कराओं की मात्रा सदैव एक ही रहती है। जब रक्त द्वारा यह इक-शर्करिद यकृत में पहुँचते हैं तो वहाँ इनका कुछ भाग मधुजन या 'ग्लाइकोजन' बन जाता है और बाक़ी बचा अंश ख़ून के द्वारा शरीर के अन्य-अन्य भागों में पहुँचकर ओपदीकरण से शक्ति उत्पन्न करता है। कर्बोदेत के ओपदीकरण के अन्तिम फल कर्बनद्वयोपिद और जल हैं; परन्तु इस क्रिया का अन्त होने के पूर्व कर्बोदेत कई रूपों में परिणत हो जाते हैं।

प्रत्यामिन— ये ऐसे यौगिक हैं जो प्रकृति की रसोई ही में पककर हमें बने-बनाए मिलते हैं। ये आहार में जीवन-मूल के सबसे निकट हैं और जीवन के जादूभरे स्पर्श मात्र से ही जीवनमूल में बदल जाते हैं। प्रत्यामिनक भोजन हमको गोश्त, मछली, अंडे, हरे शाक, बीज, मटर, सेम, दूध और पनीर से प्राप्त होते हैं। सूखे और हरे सेम, चना, मसूर, मूँगफली, मटर आदि में प्रत्यामिन या जीवन का अंश अग्निदायक भोजन की तह में लपटा हुआ भरा रहता है। जब हम इन वस्तुओं को खाते हैं तो इनका फ़ायदा उठाते हैं। पनीर दूध के प्रत्यामिनक भाग से ही बनती है। दूध और अंडे हमारी सारी आवश्यकताओं को पूर्ण करनेवाले सर्वोत्तम पदार्थ हैं। एक गिलास दूध में १। तोला और अंडे में १२ फ़ी सदी बहुमूल्य प्रत्यामिन मिलता है।

कार्बन, ओपजन, नोपजन, उद्जन, गंधक और स्फुर से मिलकर प्रत्यामिन बनते हैं। इन तत्त्वों की मात्रा यौगिकों में इस प्रकार होती है:—

कार्बन—५४·५ प्रति सैकड़ा उद्जन—७·३ प्रति सैकड़ा
ओपजन—२३·५ प्रति सैकड़ा गंधक—२·२ प्रति सैकड़ा
नोपजन—१७·६ प्रति सैकड़ा स्फुर—०·४—०·८ प्रति सैकड़ा

स्फुर सब प्रत्यामिनों में तो नहीं मिलता, लेकिन बहुतों में मिलता है।

प्रत्यामिनों का विश्लेषण किया जाय तो उनके अणु टूटकर कई प्रकार के अमिनोम्ल बन जाते हैं, जिससे विदित होता है कि कई अमिनोम्लों के संयोग से प्रत्यामिन तैयार होते हैं। आँतों की श्लैष्मिक कला में पहुँचने के पूर्व प्रत्यामिन ख़मीरों की क्रियाशीलता से टूटकर भाँति-भाँति के अमिनोम्ल में बदल जाते हैं और उसी कला के द्वारा सोख लिये जाते हैं। रक्तधारा में पहुँचने के पहले प्रत्यामिन अमिनोम्ल का रूप धारण कर लेता है। परन्तु इसमें सन्देह नहीं कि प्रत्यामिन का शेष भाग अपनी उसी दशा में रक्त में प्रवेश करता है। शरीर के किसी अंग की लुगदी में केशिन, मधुजन, ल्यूसिन, टायरोसिन आदि अमिनोम्ल मिलाये जायँ तो उसमें अमोनिया की उत्पत्ति होती है। इससे ज्ञात होता है कि शरीर के अंगों में अमिन-विच्छेदक ख़मीर होते हैं जिनके प्रभाव से अमिनोम्ल का विच्छेद होकर अमोनिया उत्पन्न होती है, जो 'मूत्रिया' या 'यूरिया' के रूप में बदल जाती है। अमोनिया रुधिर में कर्बोनेत या कर्बोमिद के रूप में मिलता है। ये दोनों पदार्थ यूरिया बनकर शरीर से बाहर निकाले जाते हैं। अमिनोविच्छेदन की यह क्रिया शरीर के सभी अंगों में हो सकती है, परन्तु ज़्यादातर तो यकृत में होती है। यकृत ही में अमोनिया यूरिया का रूप ग्रहण करता है। यूरिया में अमिनोम्ल का एक मुख्य भाग नोपजन होता है, जिसका ओपदीकरण कभी नहीं होता। उत्तरोत्तर वृद्धि और क्षतिपूर्ति के लिए हमको

बहुत थोड़े ही से नोषजन की आवश्यकता होती है। इसी-लिए प्रत्यामिनक भोजनों में जो अधिक नोषजन खाया जाता है वह मूत्र द्वारा त्याग दिया जाता है। प्रत्या-मिनक भोजन अधिक खाने से ४-५ घंटे में सब नोषजन का आधा भाग यूरिया बन-कर मूत्र में मिल जाता है। परन्तु यह भी मालूम हुआ है कि मांस युक्त आहार को पूरी तौर से पचने में ८-१० घंटे लगते हैं। इससे स्पष्ट होता है कि भोजन का अधिकांश नोषजन मूत्र में निकल जाता है।

यह पहले कहा जा चुका है कि प्रत्यामिनक भोजन की आवश्यकता शरीर की वृद्धि के लिए या भिन्न-भिन्न कार्यों से उत्पन्न होनेवाली क्षीणता की पूर्त्ति तथा शारीरिक कार्य - संचालन के हेतु आवश्यक शक्ति को ओष-दीकरण द्वारा उत्पन्न करने के लिए होती है। प्रत्यामिन भी अन्य खाद्य पदार्थों की तरह एक-दूसरे से भिन्न होते हैं। जैसे मनुष्य, चिड़िया, बकरी और मछली के मांस गुणों में एक-से नहीं होते, उसी तरह हरी पत्तियों, बीज, दूध और अंडों के प्रत्यामिन अथवा प्रोटीन सब एक-से नहीं होते। इन भिन्न-भिन्न खाद्य-पदार्थों में पाये जानेवाले भिन्न-भिन्न प्रत्यामिन शरीर में प्रत्येक अपना - अपना खास काम करते हैं। प्रकृति सारी जीवित सृष्टि को एक ही नुसख़े से नहीं रचती। वह तो प्रोटीनों के भिन्न-भिन्न नुसख़े परिश्रम से तैयार किए हुए ऐसे अणु-रूपी शब्दों से लिखती है जो सैकड़ों परमाणु-रूपी अक्षरों के समूहों से बने हैं! जीवन के स्पर्श से उनमें और भी व्यक्तित्व और पृथक्ता आ जाती है, किन्तु अग्निदायक खाद्यों में ऐसा नहीं होता। एक प्रकार की वसा उतनी ही अग्नि देती है जितनी दूसरी तरह की। निशास्ता सदा निशास्ता ही होता है चाहे कहीं भी मिले। विभिन्न शर्कराओं की क़िस्मों में भी भेद नहीं होता बल्कि अग्निदायक मूल्यों में अन्तर होता है। अग्निदायक आहारों में से अपनी पसंद और सुविधा के अनुसार हम जो चाहते हैं वही खा लेते हैं। प्रत्यामिनों में यह बात नहीं है। सब प्रकार के उपयोगी प्रत्यामिनों को प्राप्त करने के लिए यह ज़रूरी है कि कई
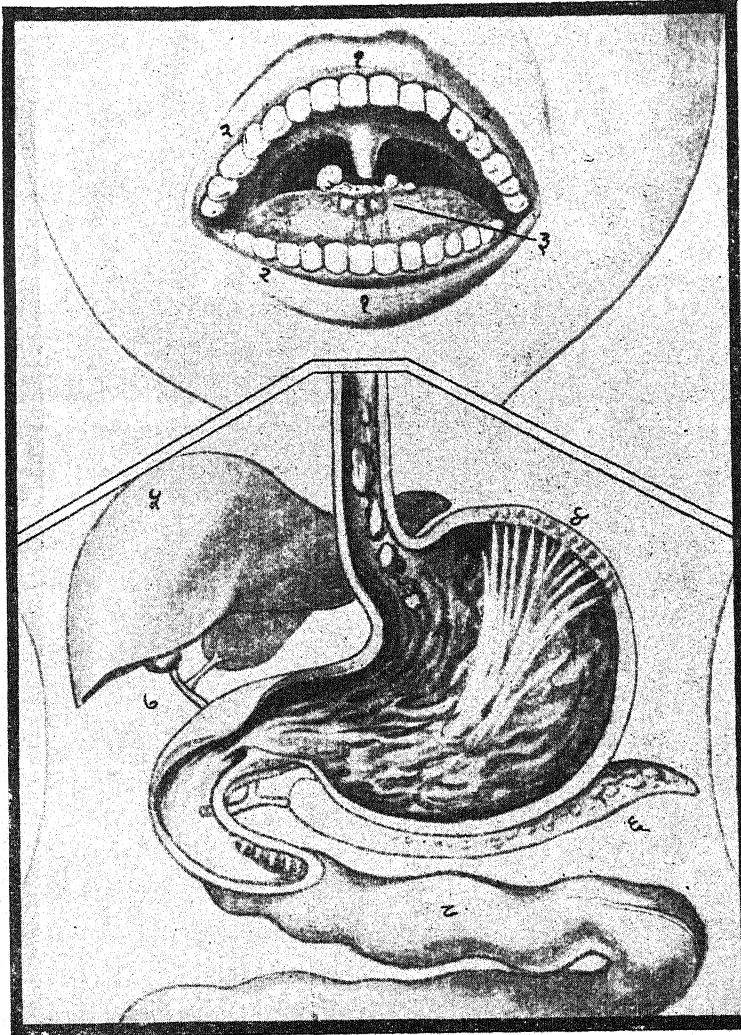
भोजन के कारख़ाने के मुख्य भाग

ऊपर, हमारे अन्नमार्ग का सबसे पहला कारख़ाना—मुँह—और उसके यंत्र हैं। नीचे शरीर का दूसरा मुख्य भोजन-कार्यालय या रसोईघर है। इसमें आमाशय के अन्दर का रहस्य प्रकट किया गया है। यह भी दिखलाया गया है कि पित्त और क्लोम-रस छोटी आँत के पहले भाग में कैसे आ पहुँचते हैं। १. कुन्तक, २. चर्वणक, ३. भोजन, ४. आमाशय-रस, ५. यकृत, ६. क्लोम, ७. पित्त-प्रणाली, ८. आँत।

तरह के गोश्त, बीजवाली तरकारियाँ, दूध और अंडे साथ-साथ खाये जावें।

वसा या मज्जा—मज्जा प्रकृति की समाहरण की हुई गर्मी देनेवाली भोजन-सामग्री हैं। इनमें भी शक्कर और स्टार्च में पाई जानेवाली तीनों सामग्रियाँ होती हैं, लेकिन इनमें ओषजन की मात्रा कम होती है। इसलिए वे अधिक ओषजन ग्रहण कर सकती हैं और शक्कर आदि की अपेक्षा तेज़ी से जल सकती हैं। उनके अच्छे ईंधन समझे जाने का यही कारण है। एक ही तौल के मक्खन या तेल का अग्निदायक मूल्य उसी वज़न की शक्कर या स्टार्च से ढाई गुना ज़्यादा होता है। सभी प्रकार की चिकनी वस्तुएँ या चर्बियाँ क़रीब-क़रीब एक ही नुसख़े से तैयार होती हैं। तेल, घी और चर्बी इस बात में एक समान होते हैं। उनमें कोई विशेष रासायनिक अन्तर नहीं होता। सबका अग्निदायक मूल्य भी एक ही होता है। यदि उनमें अन्य वस्तुओं का मेल न हो तो उनकी महक, स्वाद और रूप भी एक-सा ही होता।

चर्बियाँ अधिकतर जन्तु-पाकशालाओं में ही बनती हैं, लेकिन कुछ वनस्पतियों के भांडार में भी मिलती हैं। अख़रोट-बादाम जैसे मेवे चिकनाई के कारण ही ताक़त और गर्मी देनेवाले समझे जाते हैं। बहुत से बीज और गुठलियों से हम तेल निकालते हैं; जैसे, तिल, सरसों, बिनौला, अंडी, महुआ और ज़ैतून। जानवरों से भी हमको तेल और चर्बी आदि मिलते हैं। ह्वेल और मछली का तेल खाने और मालिश करने से शरीर की निर्बलता दूर होती है। अंडे की ज़र्दी में तिहाई भाग मज्जा का होता है। मक्खन, मलाई, रबड़ी और पनीर गौशाला से मिलनेवाली चिकनाइयाँ हैं। इन भोज्य पदार्थों में से अधिकतर इतने समाहरण किए हुए होते हैं कि हम उनको अकेला ही नहीं खा लेते। वे हमारे भोजन को स्वादिष्ट करते हैं और अधिकतर खाद्य थोड़ी-बहुत चिकनाई घी-तेल आदि में पकाकर खाए जाते हैं। मज्जा मधुरिन और मज्जिकाम्ल के सम्मेलन से बनती हैं। वनस्पतियों या जानवरों के शरीर में अधिकतर त्रिमधुरिन ही पाये जाते हैं। चर्बिकाम्ल, खजूरिकाम्ल, अथवा ज़ैतूनिकाम्ल ही तीन मुख्य अम्ल हैं, जिनके मधुरिन सम्मेलन खाद्य पदार्थों में और जानवरों के शरीरों में पाये जाते हैं।

ख़मीर के प्रभाव से आँत में मज्जा मज्जिकाम्ल और मधुरिन में रूपान्तरित हो जाती है। साबुन और मज्जिकाम्ल पित्तरस में घुलकर श्लैष्मिक कला में पहुँचते हैं। आँत की श्लैष्मिक कला के कोष्ठों के भीतर ये फिर संश्लेषण द्वारा मज्जा का रूप धारण कर लेते हैं और लसीकावाहिनी में होकर समस्त शरीर में पहुँच जाते हैं। चर्बियाँ विशेष रूप से ईंधन का काम करने के लिए ही खाई जाती हैं। कर्बोदेत और प्रत्यामिन की भाँति मज्जा भी ओषदीकरण द्वारा शक्ति उत्पन्न कर सकती है। जो अग्निदायक आहार हम ज़रूरत से ज़्यादा खा लेते हैं वे शरीर में वसा के रूप में कई स्थानों पर जमा हो जाते हैं। सबसे अधिक मज्जा चर्म के नीचे ही मिलती है। पेट के अंगों के ऊपर भी इसकी अधिकता रहती है। यकृत में भी मज्जा रहती है, लेकिन मधुजन और मज्जा साथ-साथ यकृत में नहीं रहते। उन जीवधारियों के यकृत में जो अधिकांश प्रत्यामिनक आहार पर रहते हैं और कर्बोदेत कम या बिल्कुल नहीं खाते मज्जा बहुत मिलती है। जो जानवर घास-पात खाकर जीते हैं, उनके यकृत में मधुजन पाया जाता है मज्जा नहीं। यह ज़रूरी है कि हम शरीर में थोड़ी-सी चर्बी बचा रक्खें। उसमें होकर गर्मी जल्दी नहीं निकल पाती। इसलिए वह ताप को शरीर के भीतर ही रोककर उसको गर्म रखती है। सर्दी के दिनों में या किसी बीमारी के कारण या तेज़ व्यायाम करने से जब शरीर रूपी कल में चर्बी की कमी हो जाती है उस समय यही बचाकर रक्खी हुई चर्बी काम आती है। यह मज्जा आवश्यकतानुसार बचाये हुए भांडारों से निकलकर जिस जगह ज़रूरत होती है वहीं पहुँचकर ओषदीकरण द्वारा शक्ति और गर्मी उत्पन्न करती है। इसका अर्थ यह नहीं है कि हम शरीर में ख़ूब चर्बी जमा करके बहुत मोटे बन जायँ; क्योंकि हद से ज़्यादा मोटाई शरीर के लिए भारस्वरूप है।

बहुधा यह देखा गया है कि चिकनाई कम खानेवाले भी मोटे हो जाते हैं। इसका कारण यह है कि कर्बोदेत भी आवश्यकता से अधिक खाये जाने पर मज्जा बन जाता है। कर्बोदेत से बनी हुई वसा में खजूरिकाम्ल और चर्बिकाम्ल की अधिकता होती है। प्रत्यामिन के अणुओं के टूटने से जो मज्जिकाम्ल बनते हैं वे नीची श्रेणी के होते हैं और उनसे वसा नहीं बनती। ये मज्जिकाम्ल ओषदीकरण द्वारा कर्बन द्वयोषिद और पानी में परिणत हो जाते हैं।

खनिज लवण—यह तो पहले ही बतला चुके हैं कि हड्डियों और दाँतों के बनने के लिए खटिकम या कैल्शियम और स्फुर की आवश्यकता होती है; लेकिन इनके अतिरिक्त कुछ और भी खनिज पदार्थ हैं जिनका शरीर में पहुँचना उतना ही ज़रूरी है। इनमें से कुछ शरीर-तंतु बनाने की सामग्री के काम आते हैं, कुछ रक्त में काम करते हैं और

कुछ शारीरिक कल को सुचारु रूप से चलाने और उचित रासायनिक क्रियाओं के होने में सहायक होते हैं।

प्रौढ़ मनुष्य में १५ मिलिग्राम लौह नामक खनिज की आवश्यकता होती है। ख़ून के प्रत्येक लाल कण में लोहे का अपना अत्यन्त सूक्ष्म अंश ज़रूर होना चाहिए। बिना उसके वह कण पीला पड़ जायगा और जितना ओषजन उसको ग्रहण करना चाहिए उतना न कर सकेगा। रुधिर-कणों को लाल करनेवाला पदार्थ लोहा ले जानेवाला एक रंगीन प्रत्यामिन है। यही प्रत्यामिन कण-रंजक या 'हीमोग्लोबिन' कहलाता है। लोहा हीमोग्लोबिन का सार-भूत भाग है। उसकी कमी से 'एनीमिया' या रक्त-हीनता का रोग उत्पन्न हो जाता है। लोहा दूध और अंडे में मिलता है, लेकिन इसके मिलने के सबसे प्रधान ज़रिये फल और तरकारियाँ हैं, जो ख़ासकर बच्चों को ख़ूब खाना चाहिए। साबित गेहूँ और बिना कुटे चावल में भी लोहे का अंश मौजूद रहता है। ताँबा यकृत में पर्याप्त मात्रा में पाया जाता है। हड्डियों और मांस के बनने के लिए थोड़ा-सा मैगनीशियम भी ज़रूरी है। उसके अभाव से जानवर सहज में ही विकारयुक्त हो जाते हैं, लेकिन मनुष्य उसके न होने से कभी भी पीड़ित नहीं होता। इनके अलावा और भी खनिज पदार्थ शरीर में पाए जाते हैं। अम्ल, खार, नमक, कर्बोनेत और स्फुरेन सभी शरीर के तरल पदार्थों को ठीक रखने में और कार्य करने में अपना-अपना भाग लेते हैं।

खाद्योज—ऊपर बतलाये हुए खाद्य पदार्थों के अतिरिक्त शरीर को कुछ और विशेष पदार्थों की आवश्यकता होती है। ये पदार्थ प्राकृतिक भोजनों में ही मिलते हैं, लेकिन बहुत थोड़ी-सी मात्रा में। इनको ही 'विटामिन' या खाद्योज कहते हैं; क्योंकि उनके बिना भोज्य पदार्थ निरर्थक से हो जाते हैं और अपना काम नहीं करते। इस बात का कैसे पता चला इसका हाल भी बड़ा मनोरंजक है।

कुछ रसायनज्ञों ने यह सोचा कि प्राकृतिक भोजनों के बजाय यदि ऐसे रासायनिक मिश्रण तैयार कर सकें जो शरीर में उन सब कामों को जो भोजनों द्वारा होते हैं कर लें तो बड़ा सुभीता हो जाय। इसके लिए उचित मात्रा में आवश्यक रसायनों को मिलाकर कई तरह के मिश्रण बनाये गए और उन्हें चूहे, कबूतर, ख़रगोश इत्यादि को तथा उनके बच्चों को खिलाया गया। तब पता चला कि इस खाने से उनकी बाढ़ जैसी होनी चाहिए थी न हुई और न उनका स्वास्थ्य ही अच्छा रहा। वे कमज़ोर और सुस्त दिखलाई पड़ने लगे। इन्हीं जानवरों को जब इस बनाये हुए रासायनिक भोजन के साथ थोड़ा-सा दूध मिलाकर दिया गया या उसके साथ गोभी, सलाद, करमकल्ला, मूली आदि के कुछ ताज़े हरे पत्ते या फ़ौरन् खेत से काटी हुई गेहूँ या जौ की हरी बालें खिलाई गईं तो वही सुस्त और रोगी बच्चे फिर चैतन्य होकर इधर-उधर दौड़ने लगे; उनकी तन्दुरुस्ती और वृद्धि भी ठीक हो गई। वैज्ञानिकों का ध्यान तब इस बात की ओर आकर्षित हुआ कि ताज़ा दूध, हरियाली और हरे नाज में कौन-सा जादू है जिसने थोड़ी ही मात्रा में दिये जाने पर भी बड़े सोच-समझकर बनाये हुए रासायनिक भोजनों की कमी को पूरा कर दिया? एक प्रयोगशाला में फ़ाउनटेनपेन की आधी टोपी भर या ३ घन सेंटीमीटर ही दूध रोज़ देने से चुहियों की रुकी हुई बाढ़ और तन्दुरुस्ती उन्हें फिर से प्राप्त हो गई! वे फिर तेज़ी से फूलने-फलने लगीं और उनकी संख्या भी दिन-प्रति-दिन बढ़ने लगीं। दूध की यह विशेषता उसके प्रत्यामिन और नमक निकाल देने पर भी उसमें बाक़ी रहती है। **इस विशेषता बनाए रखनेवाली वस्तु को विटामिन 'ए' कहते हैं,** जिसका ठीक-ठीक पता वैज्ञानिकों को अभी तक नहीं चला है। यह मज्जा में घुल जाती है और दूध, मक्खन, मलाई, मछली के तेल, अंडे की ज़र्दी और हरी तरकारियों में भी पाई जाती है।

एक और रसायनज्ञ ने विचारा कि पूर्वी देशों में चावल खानेवालों में ही 'बेरी-बेरी' का रोग क्यों होता है? उसने कबूतरों को चावल और पानी ही खाने को दिया। फलस्वरूप वे भी जल्दी ही बेरी-बेरी के शिकार बन गए। साधारणतः जो चावल खाया जाता है वह कूटा-छाँटा, छिलका निकाला हुआ और सफ़ेद होता है और यही कबूतरों को भी खिलाया गया था। रोगी कबूतरों में से कुछ को बिना कूटा-छाँटा, छिलकेदार, लाल, कच्चा चावल खिलाया गया तो उनमें पुनः स्फूर्ति का संचार हो गया। इससे स्पष्ट हुआ कि चावल के ऊपरी छिलके में एक ऐसा खाद्योज या विटामिन है, जिसकी उन कबूतरों को ज़रूरत थी। पानी में घुलनेवाले **इस खाद्योज का नाम विटामिन 'बी' रक्खा गया है** और यह सिद्ध हो चुका है कि मनुष्य और अन्य जानवरों के बढ़ने और स्वास्थ्य को स्थिर रखने के लिए यह ज़रूरी है। यह पदार्थ अनाज के दानों के बाहरी छिलकों के अतिरिक्त उनके अंकुरों और कुछ फलों तथा सेम और ख़मीर में भी पाया जाता है। इसके अभाव से बेरी-बेरी को छोड़कर कुछ खाल के रोग भी पैदा हो जाते हैं। इसी प्रकार एक और पानी में घुलनेवाले विटामिन का

पता चला है, जो नींबू, नारंगी, टमाटर आदि ताज़ा फलों और करमकल्ले, सलाद आदि की-सी सब्ज़ियों में पाया जाता है। दूध और ताज़ा मांस में भी यह थोड़ा-बहुत मिलता है। जिन मल्लाहों को बहुत दिनों तक फल और सब्ज़ी के बिना जहाज़ों पर रहना पड़ता था उन्हें इसके अभाव से 'स्कर्वी' नामक भयंकर रोग हो जाता था। विटामिन 'सी' के पता लगने का प्रमुख कारण यही है। और भी कई 'डी', 'ई' इत्यादि विटामिनों का परिचित भोजनों से पता चला है।

पानी—पानी साधारण वस्तुओं को शरीर में एक जगह से दूसरी जगह ले जाने का सबसे ज़रूरी साधन है। वह हर एक जीवित कोष का भाग है, जिसके बिना वे जीवित नहीं रह सकते। इसीलिए हमें दिन भर कई गिलास पानी पीने की आवश्यकता पड़ती है। कुछ पानी हमको हरे फलों और शाक-भाजी से भी मिल जाता है।

अन्नमार्ग के कारख़ाने तथा उनके कर्त्तव्य

मुँह—अन्न-प्रणाली का पहला ग्रहणकारी कारख़ाना— आइए, अब हम अन्नमार्ग के कारख़ानों की ओर चलें। सबसे पहला कारख़ाना मुँह है, जहाँ भोजन चक्की की तरह कुचला और पीसा जाता है। पहले बतलाया जा चुका है कि मुख में भोजन को चबाने से जो लार उसमें आ मिलती है उसके प्रभाव से आहार के श्वेतसार पदार्थ शक्कर बन जाते हैं। यह परिवर्त्तन लार में उपस्थित टायलिन नामक ख़मीर से होता है। रोटी, चावल, आलू, केला, अरारोट आदि श्वेतसार इस ख़मीर के मिश्रण से दक्षिणिन और यवोज—शक्करों—का रूप ग्रहण कर लेते हैं। लार का गुण खारीपन है; क्योंकि टायलिन श्वेतसार को शक्कर में तभी परिणत कर सकता है जब वह खारी तरल पदार्थ में हो। परन्तु सारा निशास्ता मुँह में इस दशा को नहीं प्राप्त होता। उसका एक बड़ा भाग अपनी असली दशा में अन्नमार्ग के दूसरे कारख़ाने—पाकस्थली—में एक गोले के रूप में जा पहुँचता है और वहाँ ३०-४० मिनट तक उस पर लार की प्रक्रिया होती रहती है, क्योंकि इस बीच में पेट की ग्रन्थियों से निकले हुए उद्हरिकाम्ल या हाइड्रोक्लोरिक ऐसिड का प्रवेश नहीं हो पाता। लेकिन इसके बाद इतना उद्हरिकाम्ल निकलकर उससे मिल जाता है कि उसका खारीपन जाता रहता है और वह आम्लिक हो जाता है, जिससे उसकी क्रियाशीलता नष्ट हो जाती है। परन्तु इससे पहले ही लार बहुत-कुछ अपना प्रभाव डाल चुकी होती है।

टायलिन ख़मीर का असर अधिकांश पकाए हुए श्वेतसार पर ही पड़ता है। बिना पके हुए पर इसका प्रभाव बहुत कम होता है। श्वेतसार या निशास्तों (कर्बोदेत) के अतिरिक्त और जो वस्तुएँ—चिकनाई देनेवाली (मज्जा) और मांसवर्द्धक (प्रत्यामिन)—हम खाते हैं, उन पर लार का कोई रासायनिक प्रभाव नहीं पड़ता। वे लार से मिलकर मुलायम तो हो जाती हैं परन्तु उनका पाचन आमाशय और आँत के रसों से होता है।

आमाशय—सुविधानुकूल हो जानेवाला दूसरा विचित्र कारख़ाना—अन्नमार्ग का दूसरा सबसे बड़ा कारख़ाना आमाशय है, जिसमें भोजन ३० मिनट से लेकर ३-४ घंटे या उससे भी अधिक देर तक ठहरता है। हमने क्या खाया, कितना खाया, तथा पाकस्थली की क्रियाशीलता और शरीर के अन्य भागों में होनेवाले कर्त्तव्य आदि सभी बातें खाने के आमाशय में ठहरने के समय से सम्बन्धित हैं। यह ऐसा अजीब कारख़ाना है, जो आवश्यकतानुसार छोटा और बड़ा होता रहता है। कम भोजन रहने पर उसकी दीवालें सट जाती हैं और ज़्यादा भोजन आने पर वे फिर फैल जाती हैं अथवा यह कहा जा सकता है कि वह कारख़ाना बड़ा हो जाता है। इस कारख़ाने का कार्य विशेषतया सामग्री को तैयार करने का ही है, किन्तु यहाँ सामग्री अपनी पूर्ण अवस्था को नहीं पहुँचती। यहाँ ज़रूरी पाचन-क्रियाएँ तो होती हैं, लेकिन थोड़े-से मद्यों और शर्करा के सिवाय अन्य वस्तुओं का शोषण बहुत कम होता है।

इस कारख़ाने में जो रस बनता है उसमें खट्टापन होता है, क्योंकि उसमें **उद्हरिकाम्ल** (नमक का तेज़ाब) पाया जाता है। इसके अलावा आमाशय-रस में कई और ख़मीर भी रहते हैं, जिसमें से मुख्य **पेप्सिन** और **रेनिन** हैं। पेप्सिन उद्हरिकाम्ल के सहारे प्रत्यामिन—मांसवर्द्धक पदार्थों—को तोड़कर पेप्टोन नामक सरल पदार्थ में परिवर्तित कर देता है। जो अमिनोअम्ल प्रत्यामिन के अणुओं के टूटने से निकलते हैं, उनके पृथक्-पृथक् समूहों में एकत्र होने से ही भाँति-भाँति के **प्रत्योज** और **पेप्टोन** बन जाते हैं। ये घुलनशील पदार्थ हैं और सुगमतापूर्वक आगे के कारख़ानों में पहुँचकर शरीर में ले लिये जाते हैं। रेनिन ख़मीर दूध को जमा देता है। यही कारण है कि दूध पीने के थोड़ी ही देर बाद भी जब छोटे बच्चे क़ै कर देते हैं तो पेट में से दूध के क़तरे निकलते हैं। आमाशय-रस का तीसरा ख़मीर **लाइपेज़** है, जो मज्जा या चिकनाई (घी, तेल, मक्खन या दूध की चिकनाई)

का उद्श्लेषण करता है और उन्हें पिघलाकर स्वतन्त्र मज्जिकाम्ल में बदल देता है। चिकनाइयों का भी पाचन आगे जाकर ही शुरू होता है। वे आमाशय में बिल्कुल नहीं पचतीं।

इस अद्भुत कारख़ाने के २-३ घंटे तक चालू रहने पर देखा जाय तो उसमें पचे हुए श्वेतसार से बनी हुई शक्कर, कुछ बिना पचा श्वेतसार, पचे हुए प्रत्यामिन से बने हुए प्रत्योज पदार्थ, कुछ बिना पचे प्रत्यामिन, पिघली हुई चर्बी और कुछ मात्रा में दुग्धिकाम्ल या लैक्टिक ऐसिड मिलेगा, जो कीटाणुओं द्वारा कर्बोदेत के ख़मीर से बनने लगता है। इनके अलावा भोजन का न पचनेवाला अंश—फलों और भाजियों के रेशे या चोकर और कड़े छिलके—भी मिलेंगे। ये सब पदार्थ आमाशय-रस में घुले-मिले आहार-रस के रूप में पक्वाशयिक द्वार से होकर धीरे-धीरे आगे के नली के समान लम्बे कारख़ाने में पहुँचाए जाते हैं।

आँत के काटे हुए भाग का एक परिवर्द्धित चित्र, जिसमें रक्त-नलिकाएँ और दुग्ध-स्रोत भी प्रदर्शित हैं। इससे विदित होता है कि आहार-पदार्थ और वसा कैसे उनमें खिंच जाते हैं।

क्लोम रस पतला, साफ़ और क्षारीय होता है। यह कैसी महत्वपूर्ण बात है कि क्लोम-रस पक्वाशय में पहुँचने पर आंत्रिक रस के मिलने के बाद ही क्रियाशील होता है। इसका कारण यह है कि जब क्लोम-रस पक्वाशय में पहुँचता है तो अम्लात्मक अधपचे खाद्य से मिलकर उसकी प्रक्रिया शिथिल हो जाती है।

क्लोम-रस में तीन-चार तरह के ख़मीर पाये जाते हैं। सबसे प्रभावशाली ख़मीर **एमाइलेप्सिन—केलीलेज** है। इसका असर लार में मिलनेवाली टायलिनन की तरह होता है। यह श्वेतसारों के बचे-बचाये भाग को, जो पक्वाशय तक पहुँचता है, पचनेवाली शक्करों में बदल देता है। दूसरा ख़मीर **ट्रिप्सिन** है, जिसके प्रभाव से आमाशय-रस के असर से बचे हुए प्रत्यामिन—मांसवर्द्धक पदार्थ—पेप्टोन का रूप धारण कर लेते हैं। यह भी एक रोचक बात है कि आमाशय का रस तो क्षारीयता के कारण मांसवर्द्धक पदार्थों पर असर करता है, परन्तु यह ख़मीर उसी क्रिया को अपने खारेपन के कारण करता है। ट्रिप्सिन प्रत्यामिन का उद्श्लेषण आँत के पहले भाग में ही करता है। दूध में क्लोम-रस डालकर थोड़ी देर गर्म करने से वह जम जाता है, परन्तु फिर घुल जाता है। इस घटना का कारण ट्रिप्सिन ही बतलाया जाता है। सम्भव है कि कोई और ख़मीर भी इसका ज़िम्मेदार हो। इसी प्रकार क्लोम-रस दूध को भी पचाता है। क्लोम-रस का तीसरा ख़मीर **लाइपेज़ या स्टियेप्सिन** है, जो चर्बियों को तोड़कर मज्जिकाम्ल और मधुरिन बना देता है। मज्जिकाम्ल क्षार से संयुक्त होकर साबुन बन जाता है। लाइपेज़ पानी में नहीं घुलता, परन्तु मधुरिन में घुल जाता है। यह ख़मीर क्षारीय या शिथिल माध्यम में ठीक काम करता है। आम्लिक माध्यम में उसकी क्रियाशीलता भंग हो जाती है। इसके

आँत—सबसे बड़ा और आवश्यक कारख़ाना—इस लम्बे पेचदार नली-जैसे कारख़ाने का पहला भाग पक्वाशय, दूसरा छोटी आँत और तीसरा बड़ी आँत है। पक्वाशय नामक भाग तो आवश्यक है ही, किन्तु उसके आगेवाला भाग भी कुछ कम ज़रूरी नहीं। जैसा कि पहले बताया जा चुका है, तीसरा भाग अथवा बड़ी आँत कोई ऐसा ज़रूरी नहीं है। आँत की श्लेष्मिक तह में बहुत-सी पतली लम्बी-लम्बी बोतलें-सी आमाशय की ही तरह सजी रहती हैं, जिनसे पचानेवाले रस निकलते हैं। इनकी क्रिया को समझने से पहले क्लोम और यकृत से आनेवाले रसों पर ध्यान देना उचित है। जब अम्लात्मक आहार-रस पक्वाशय में पहुँचता है तो उसमें क्लोम, यकृत और नलिकाकार आंत्रिक ग्रन्थियों के रस मिल जाते हैं।

काम में यकृत से निकलनेवाला पित्त बहुत सहायक होता है। पित्त के नमक हल्के आम्लिक माध्यम में मज्जिकाम्ल और साबुन को भी घुला डालते हैं।

पित्त यकृत से बनकर पक्काशय में आ गिरता है। पित्त में भी एक ख़मीर होता है, लेकिन आहार-रस पर पित्त का अपना कोई असर नहीं पड़ता। उसकी उपयोगिता उसमें घुले हुए नमकों से होती है। ये नमक मज्जा और पानी के बीच के तनाव को कम करते हैं, जिससे ख़मीर का घोल और मज्जा का परस्पर मिलाव अधिक बढ़ जाता है। पित्त के नमक ख़मीर के घोलने में भी सहायक होते हैं। पित्त में घुले हुए मज्जिकाम्ल, मधुरिन और साबुन जब आँतों की श्लैष्मिक कला में पहुँचते हैं तो उनका फिर संश्लेषण हो जाता है और आहार-रस ख़ून में जल्दी से मिलने योग्य हो जाता है। जब छोटी आँत में पित्त नहीं पहुँचता तो क्लोम-रस को कठिनाई का सामना करना पड़ता है। खाद्य पदार्थों के आँत में पहुँचने पर पित्त और क्लोम-रस के अतिरिक्त छोटी आँत की गिल्टियों में बननेवाला रस भी उनमें आ मिलता है। इस आंत्रिक रस में कई ख़मीर होते हैं जिनके कारण वह आहार-रस को भली भाँति पचाकर रक्त में मिलने योग्य बना देता है। भोजन के पाचन की अन्तिम क्रिया इसी रस के सहारे होती है। श्वेतसारों से बनी हुई शक्कर ग्लूकोज़ के रूप में बदलकर रुधिर में जाने योग्य हो जाती है और मांसवर्द्धक खाद्यों से बने पेप्टोन आँत के रस के प्रभाव से ख़ून में मिलने लायक़ अमिनोअम्ल बन जाते हैं। चर्बीदार पदार्थ अम्ल और मधुरिन में परिणत हो जाते हैं। इस प्रकार सब खाद्य-सामग्रियाँ आपस में मिलकर धीरे-धीरे छोटी आँत से बड़ी आँत की तरफ़ बढ़ती हैं और इनका सार रक्त में खिंचता जाता है और पाचन हो जाता है। इसलिए यह कारख़ाना सबसे श्रेष्ठ है।

मनुष्य की बृहत् आँत न तो बहुत छोटी ही होती है और न बहुत बड़ी ही होती है। इस बड़ी आँत में पहुँचने पर पाचक रसों के ख़मीर कुछ समय तक बचे हुए अंशों पर अपना असर डालते रहते हैं और जो सोखने लायक अंश अब भी बच रहते हैं, उन्हें बड़ी आँत पानी के साथ सोख लेती हैं और ठोस मल बच रहता है।

अब आपने अपने शरीर की पाचन-कल की रचना, उसके भिन्न-भिन्न पुर्ज़े और उनके कर्त्तव्यों को तो जान लिया। इससे आपको पता चल सकता है कि हमारा पाचन-संस्थान कैसा अजीब और गुणकारी यंत्र है जो रात-दिन, महीने-महीने और वर्ष-प्रति वर्ष अपना कड़ा काम करता रहता है। प्रायः हम अपनी बेपरवाही और अज्ञान के कारण उस पर अनुचित बोझा डालते रहते हैं। याद रखिए कि यकृत, मैदे और आँत के कारख़ानों के कारीगरों को भी अपने कठिन परिश्रम के पश्चात् कुछ विश्राम मिलना चाहिए। यदि हम दिन में कई बार थोड़ा-थोड़ा खाते रहें तो आमाशय के कारीगरों को सुस्ताने का बिल्कुल ही अवसर न मिले। **कोई आश्चर्य की बात नहीं यदि वे अपने कड़े, लम्बे कष्ट से घबड़ाकर कभी-कभी विद्रोह भी कर दें। जिगर को थका मारना अस्वास्थ्य के मूल कारणों में से एक है।** अतः यदि आप अपने पाचन-यंत्र को ठीक रखना चाहते हैं तो इन बातों को न कीजियेः—

(१) भोजन बहुत तेज़ी से कभी न कीजिए।
(२) निगलने से पहले अच्छी तरह चबाना न भूलिए।
(३) खाने के पहले बहुत ज़्यादा शक्कर कभी न खाइए।
(४) दोनों वक़्त के भोजनों के बीच बार-बार न खाइए।
(५) रोज़ समय पर मल-त्याग करने से न चूकिए।

मानव-शरीर के भोजन के पाचन की पूरी कहानी निम्नलिखित सूची में संक्षेप में फिर से दर्शाई जा रही हैः—

अन्नमार्ग के कारख़ाने	पाचक रस	पाचक रसों की प्रक्रियाएँ
मुँह	लार (क्षारीय)	कुछ श्वेतसार शर्करा में बदल जाते हैं
आमाशय	आमाशय रस (आम्लिक)	प्रत्यामिन टूटकर पेप्टोन और प्रत्योज बनते हैं; दूध जम जाता है; शर्करा साधारण चीनियों में बदल जाती है
छोटी आँत	क्लोम-रस (क्षारीय) पित्त (क्षारीय) आंत्रिक रस (क्षारीय)	प्रत्यामिनों को अधिक साधारण बनाता है, दूध को पचाता है। चिकने आहारों को साबुन में बदल देता है और श्वेतसार को अंगूर की शक्कर में परिणत कर देता है।
बड़ी आँत	एक क्षरण	मुख्य रूप से तेल देना। पानी सोख लिया जाता है और कीटाणुओं द्वारा रासायनिक परिवर्त्तन होते हैं।
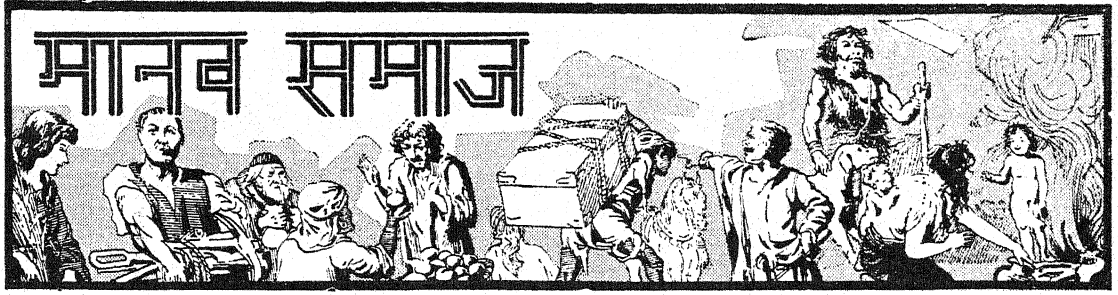
अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार तथा आर्थिक स्वदेशहित—(१)

इस लेख का आकार बड़ा होने के कारण हम इस अंक में इसका आधा भाग ही प्रकाशित कर रहे हैं, शेषांश अगले अंक में प्रकाशित होगा।

इतिहास की दृष्टि से अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार का जन्म बहुत प्राचीन काल में हुआ था। अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार का उल्लेख ईसा से पूर्व के युग में भी पाया जाता है। इस समय में अधिकांश व्यापार पूर्वीय देशों के हाथ में था, जिनमें भारतवर्ष तथा चीन प्रमुख थे। उस समय का व्यापार आजकल के अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार से बहुत अंशों में भिन्न था। उन दिनों का अंतर्राष्ट्रीय व्यापार अधिकांश में भोग-विलास की सामग्री तक सीमित था। दूसरी विशेषता यह थी कि उत्पादन करनेवाले देश केवल अपने ही देश का कच्चा माल वस्तुओं के उत्पादन के काम में लाते थे। अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में इन दोनों ही विशेषताओं का बड़ा महत्त्व माना गया है।

प्रत्येक देश में व्यापार के दो प्रमुख पदार्थ-समूह होते हैं। एक तो जनसाधारण के उपयोग के पदार्थ जिनका व्यय बड़ी संख्या में होता है और दूसरे वे पदार्थ, जिनको केवल देश के गिने-चुने धनवान् लोग तथा राजपरिवारवाले अपने भोग तथा मान-प्रदर्शन के लिए ख़रीदा करते हैं। जैसा ऊपर बतलाया गया है, प्राचीन काल का अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार अधिकतर दूसरी श्रेणी के पदार्थों तक सीमित था। इस समय तक मशीनों द्वारा उत्पादन-कार्य नहीं होता था। यह भी कह सकते हैं कि उस समय तक आज-जैसे उत्पादित पदार्थ केवल गिने-चुने थे। अधिकांश में व्यापार प्रकृति द्वारा पैदा होनेवाले पदार्थों तक ही बहुत अंश में सीमित था। भारतवर्ष का मसाला (Spices), जैसे मिर्च, धनिया, इलायची, लौंग, काली मिर्च इत्यादि, योरप-जैसे सुदूर प्रदेशों को जाता था। इस प्रकार की व्यापार-सामग्री बहुधा ऐसी होती थी जो दूसरे देशों में पाई ही नहीं जाती थी। मनुष्य की कला द्वारा उत्पादित पदार्थ भी ऐसे होते थे जिनके बनाने का कच्चा माल उन्हीं देशों में पैदा होता हो, जैसे भारतवर्ष का बना हुआ कपड़ा। इसका अर्थ यह हुआ कि अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार उस समय तक स्वदेशी आर्थिक उत्पादन को कोई हानि नहीं पहुँचाता था। बल्कि एक दृष्टि से तो वह नवीन पदार्थों को प्रस्तुत करके उस देश के निवासियों की सेवा भी करता था।

आर्थिक प्रतिद्वन्द्विता का प्रश्न उपरोक्त प्रकार की व्यापारिक व्यवस्था में उठता ही नहीं था। देश के कारीगर पूर्ववत् उत्पादन-कार्य में संलग्न रहते थे और फलतः देशवासियों को बेकारी का सामना नहीं करना पड़ता था। विदेशी माल के विरोध में कोई आन्दोलन इसलिए नहीं उठता था कि उस प्रकार का माल स्वदेश में बनता ही नहीं था अथवा बन ही नहीं सकता था और ऐसी अवस्था में उसको विदेशों से मोल लेने के अतिरिक्त कोई और उपाय ही नहीं था। केवल अपने देश में पैदा होनेवाले कच्चे माल द्वारा बने हुए पदार्थों का ही अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में प्रयोग होने से प्रत्येक देश के निवासियों को अपने-अपने देश के कच्चे माल का लाभ उठाने की पूर्ण स्वतन्त्रता तथा सुविधा थी। यह भी कह सकते हैं कि उस समय का अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार प्राकृतिक सम्पत्ति पर निर्भर था। प्राकृतिक सुविधाएँ ही अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार का मूलमंत्र थीं। ऐसी दशा में देश में बेकारी बढ़ने की सम्भावना कम थी। यदि कोई देश अपनी आवश्यकता से अधिक पदार्थ बना लेता तो बचे हुए पदार्थ अन्य देशों

को भेज देता और इसी प्रकार अन्य देशों का बचा हुआ माल अपने देश को मँगवा लेता। इस प्रकार माल बेचनेवाले देश को बचे हुए माल के दाम अपने देश की अपेक्षा अधिक मिलते थे, क्योंकि यहाँ उसकी बहुतायत होने से उसका मूल्य गिर जाता, परन्तु अन्य देश में नवीन पदार्थ होने के कारण उसका मूल्य अच्छा मिलता था।

इसमें सन्देह नहीं कि इस प्रकार स्वदेशवासियों के भोग से बचे हुए पदार्थ ही अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के काम में आने तथा अपने ही देश के कच्चे माल से व्यापार-पदार्थ-उत्पादन होने के कारण उस युग में अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार बहुत-कुछ संकुचित तथा सीमित रहा। परन्तु इस प्रकार के अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार से वैदेशिक प्रतिद्वन्द्विता, कलह तथा विरोध उत्पन्न होने की सम्भावना नहीं थी। अर्थशास्त्र का यह मन्तव्य कि "अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार द्वारा दोनों देश (बेचनेवाला देश तथा मोल लेनेवाला देश) लाभ उठाते हैं" पूर्णतया उन दिनों चरितार्थ था। इस प्रकार का सुखमय तथा शान्तिपूर्ण व्यापार कई शताब्दी तक चलता रहा। तब चौदहवीं और पंद्रहवीं शताब्दी के राजनीतिज्ञों तथा अर्थशास्त्रज्ञों की एक नई धारणा यह हुई कि सोना तथा चाँदी देश के लिए एक लभ्य धातु हैं। यह धारणा इतनी प्रबल हुई कि किसी देश की आर्थिक उन्नति का माप उस देश के सञ्चित सोने तथा चाँदी के ढेर से ही किया जाने लगा। इस धारणा के विद्वानों को अर्थशास्त्र के इतिहासज्ञ 'मर्कन्टाइलिस्टस्' (Mercantilists) के नाम से पुकारते हैं, क्योंकि उनकी विचारधारा तथा धारणा का मुख्य भार वाणिज्य पर था। अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार पर इस विचार-धारा का बड़ा महत्वपूर्ण प्रभाव पड़ा। देश में सोने तथा चाँदी को संचित करने के लिए निम्नलिखित नीति का पालन करना आवश्यक प्रतीत हुआ—

(१) अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में प्रत्येक देश अपने देश के उत्पादित पदार्थ अधिक-से-अधिक संख्या में बेचे और दूसरे देश के उत्पादित पदार्थ कम-से-कम संख्या में मोल ले, जिससे देश के अन्य देशों को बेचे गए पदार्थ और देश द्वारा मोल लिये गए पदार्थों का अन्तर अधिक-से-अधिक हो और उसके परिणामस्वरूप देश को अन्य देशों से बहुमूल्य धातुएँ अधिकाधिक मूल्य की मिल सकें। इस प्रकार के नियम को 'स्वदेशानुकूल-व्यापार-अवशेष' (favourable balance of trade) की नीति के नाम से पुकारते हैं।

(२) कुछ देशों में लभ्य पदार्थों की कमी से यह सम्भव नहीं था कि वे देश केवल पदार्थों के बल पर स्वदेशानुकूल-व्यापार-अवशेष की नीति को सफल कर सकें। ऐसे देश पदार्थ-बिक्री की कमी को अन्य सेवाओं द्वारा पूरा करने की चेष्टा करते हैं। सरल शब्दों में यह भी कह सकते हैं कि ऐसे देश उत्पादित पदार्थों के बदले अपने मज़दूरों की सेवा तथा अपने रुपये का व्याज आदि बेचकर पदार्थ-विनिमय की कमी को पूरा करते हैं। इसका एक बड़ा उदाहरण इङ्गलैंड के इतिहास से मिलता है। इङ्गलैंड-निवासी पदार्थों के अतिरिक्त जहाज़-कम्पनियों की सेवा, बीमा-कम्पनियों की सेवा, एवं बैंकों की सेवा प्रदान कर तथा अपने पूर्व-सञ्चित धन को उधार देकर उसके सूद अथवा मुनाफ़े द्वारा पदार्थ-विनिमय की कमी को पूरा करते हुए अपने देश से बहुमूल्य धातुओं को बाहर जाने से रोकते हैं। इस प्रकार अनुकूल-व्यापार-अवशेष को सुधारने के लिए इन सेवाओं की बिक्री की जाती है, जिसके फलस्वरूप 'अनुकूल-निस्तार-अवशेष' (favourable balance of payment) की लभ्य अवस्था प्राप्त होती है। वास्तव में तात्पर्य तो यही है कि देश में सोना तथा चाँदी अन्य देशों से आकर संचित होता रहे और अपने देश का सोना-चाँदी बाहर देशों को न जाने पाए। इस अवस्था को बनाये रखने के लिए ही अनुकूल-व्यापार-अवशेष की नीति का पालन किया जाता है। इस प्रकार अनुकूल-निस्तार-अवशेष ध्येय है और उसका एक साधन अनुकूल-व्यापार-अवशेष की नीति है।

(३) उपरोक्त नीति का आधार इस धारणा पर है कि व्यापारमंडल के देश निश्चित हैं। अनुकूल-व्यापार-अवशेष को लागू करने के लिए दूसरा उपाय यह था कि वर्त्तमान व्यापार-मण्डल के बाहर के देशों से व्यापारिक संसर्ग स्थापित किया जाय और व्यापार-मण्डल के देशों तक सीमित व्यापार में प्रतिकूल-व्यापार-अवशेष (unfavourable balance of trade) की पूर्त्ति नये देशों से व्यापार द्वारा की जाय। इस नीति का लक्ष्य भी अनुकूल-निस्तार-अवशेष की स्थापना करना था।

(४) वर्त्तमान पदार्थों के अतिरिक्त अन्य नवीन पदार्थ बनाये जायँ जो मानव समाज के लिए उपयोगी हों। इस प्रकार विज्ञान और कला के सहारे नये पदार्थों का उत्पादन कर उनका व्यापार किया जाय, जिसके द्वारा देश में सोने तथा चाँदी का संचय हो।

अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के इतिहास में चौदहवीं शताब्दी से आज तक इसी नीति के पालन करने के प्रयत्न दिखाई

देते हैं। इस धनलोलुप नीति को छिपाने के लिए राज-नीतिज्ञों ने कहीं-कहीं यह प्रयत्न किया कि इस नीति को किसी अन्य आदरणीय सिद्धान्त की ओट में चलाया जाय अथवा ऐसे सिद्धान्त का प्रचार किया जाय जो बाहरी रूप से तथा तर्कसम्मत दृष्टि से सराहनीय प्रतीत हो, परन्तु उसका परिणाम स्वदेशहित के अनुकूल ही हो।

कहीं-कहीं ऐसे अन्य उपायों का भी प्रयोग किया गया जिनका दिखावटी सम्बन्ध दूसरी बातों से हो, परन्तु उनका अदृश्य फल यह हो कि अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार का रूप ऐसा परिवर्त्तित हो जाय कि स्वदेश को अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में अधिक लाभ हो।

अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार का इतिहास तथा विस्तार इसी कूटनीति का एक खिलौना है। उपरोक्त नीति का पालन किसी विशेष क्रम से नहीं हो सका। कहीं-कहीं कई नीतियों का पालन एक साथ ही हुआ। भिन्न-भिन्न देशों में नीति का क्रम अपने-अपने देश की अवस्था तथा आवश्यकता के अनुसार होता रहा।

पहले बतलाया जा चुका है कि पूर्वकाल के अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में केवल बहुमूल्य पदार्थ तथा मसाले के छोटे-छोटे फल, जैसे मिर्च, लौंग, इलायची इत्यादि, विशेष महत्व रखते थे। प्राकृतिक पैदावार ही एक देश से दूसरे देश को भेजी जाती थी। फ़सल कटने के बाद अवकाश के समय में देश के कुशल कारीगर अपने ही देश में उत्पादित कच्चे माल से सुन्दर-सुन्दर छोटे-छोटे सामान्य उपयोग के तथा राजगृहों के सजावट इत्यादि के पदार्थ बनाते रहते थे। अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में प्राकृतिक पैदावार के साथ-साथ इनका भी व्यापार होने लगा। अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार केवल हलके, बहुमूल्य और थोड़े पदार्थों तक सीमित इस-लिए रहा कि उत्पादन की कमी के साथ-साथ उनको अन्य सुदूर देशों में ले जाना कष्टमय, भयप्रद तथा बहुत ख़र्च की बात थी। डाक्टर मार्शल ने लिखा है कि उस समय के अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के मार्ग दुर्गम तथा कष्टप्रद होते हुए भी कामदानी, कारचोब के बढ़िया कपड़े तथा रत्नजटित पदार्थ, फौलाद के सुन्दर शस्त्र तथा अन्य वस्तुएँ और धातु के बने हुए पदार्थ, जिनमें धातु की अपेक्षा शोभा या सुन्दरता अधिक होती थी, ले जाने के लिए वे खुले रहते थे।

मर्केन्टाइलिस्टों के मत के अनुसार पहली चेष्टा यह हुई कि देश का निर्यात बढ़ाया जाय। देश के निर्यात बढ़ाने की युक्तियों का वर्णन ऊपर किया जा चुका है। कोई देश अपने पदार्थ अधिक संख्या में तभी बेच सकता है जब उनका मूल्य कम हो। अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार की कठिनाइयों द्वारा व्यापारिक पदार्थों के दाम बहुत बढ़ जाते थे और इसलिए उपयोगी होते हुए भी उनकी बिक्री बहुत संकुचित रहती थी। उनका मूल्य घटाने के केवल दो ही उपाय थे—एक तो यह कि उत्पादन का ख़र्च कम किया जाय और दूसरे यह कि उनके ले जाने का ख़र्च कम हो। उस समय तक मशीनों का आविष्कार नहीं हुआ था इसलिए कारीगर न तो थोड़े समय में बहुत-से पदार्थ बना सकते थे और न प्रति पदार्थ कारीगरों की संख्या ही घटाई जा सकती थी। कच्चे माल के उत्पादन-ख़र्च के घटने का कोई प्रश्न ही न था। इस प्रकार व्यापारियों ने पदार्थ को यहाँ से वहाँ ले जाने का ख़र्च घटाने की बात पर अधिक ध्यान दिया। इसमें हालैण्ड के व्यापारी अग्रसर हुए। हालैण्ड के समुद्री व्यापार के यातायात के क्षेत्र में अगुआ होने के पहले योरप का सारा अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार का केन्द्र वेनिस था। हिन्दुस्तान तथा पूर्वी देशों के जहाज़ अपना सामान वेनिस में उतारते और वहाँ से भूमार्ग द्वारा वे पदार्थ समस्त योरप में पहुँचाये जाते और वहाँ का माल वेनिस द्वारा सुदूर देशों को भेजा जाता। हालैण्ड ने अपने खेती तथा उद्योग द्वारा उत्पा-दित पदार्थों के व्यापार के साथ-साथ वणिज्य का कार्य भी प्रारम्भ किया। इस व्यापार में हालैण्ड के नाविकों ने प्रमुख भाग लिया। वास्तव में इसी युक्ति का अनुसरण २०० वर्ष बाद इङ्गलैण्डवालों ने किया और अपनी वर्त्तमान व्यापारिक उन्नति प्राप्त की। जलमार्ग से व्यापार के पदार्थ ले जाने में ख़र्च कम पड़ता था। समुद्र के संकटों से बचने और बहुत बड़ी संख्या में पदार्थों को ले जाने के लिए बड़े-बड़े जहाज़ बनाए जाने लगे। इसके लिए बहुत धन की आवश्यकता हुई और उसकी पूर्ति के लिए कई नाविक कम्पनियों ने परस्पर सहयोग से काम लिया। सहयोगिक कम्पनियों (Joint Stock Companies) का जन्म भी इसी प्रकार हुआ। इन नाविक कम्पनियों के उद्योग के दो मुख्य फल हुए। एक तो हालैण्ड का सामान पहले की अपेक्षा सस्ते दाम पर अन्य देशों में बेचा जा सकता था। दूसरे हालैण्ड संसार के बहुत-से देशों के बने हुए माल का विक्रेता हो गया। जहाज़-कम्पनियाँ भिन्न-भिन्न देशों से पदार्थ एकत्रित करतीं और दूसरे देशों में ले जाकर बेचतीं। वाणिज्य-व्यापार का लाभ तथा जहाज़ों का भाड़ा ये दोनों ही हालैण्डवासियों को

मिलते। इस प्रकार अनुकूल-व्यापार-अवशेष प्राप्त करने की उपरोक्त दो नीतियों का हालैण्ड ने साथ-साथ पालन किया।

हालैण्ड की आर्थिक उन्नति ने दूसरे देशों का ध्यान भी इस युक्ति की ओर आकर्षित किया। समुद्रीय मार्ग में इसका अनुसरण करनेवाला दूसरा देश पुर्त्तगाल था। पुर्त्तगाल के नाविकों ने भी अपूर्व साहस से काम लिया और हालैण्ड के व्यापार में हिस्सा बँटाने की चेष्टा की। अपरिचित समुद्र-मार्गों पर सुदूर यात्रा करनेवालों और नये देशों से सम्पर्क स्थापित करनेवालों में पुर्त्तगाल के दो महानाविकों के नाम आज तक सुविख्यात हैं। इनमें से पहला कोलम्बस था, जिसने १४८५ में अमेरिका भूभाग को ढूँढ़ा और पुरानी दुनिया से इस बड़े भूभाग का सम्पर्क स्थापित किया। दूसरा नाविक वास्को-डि-गामा था, जो १४६८ में भारतवर्ष आया था। ये दोनों भारतवर्ष के अथाह सोने के भण्डार को ढूँढने तथा व्यापार द्वारा उसे अपने देश को ले जाने की चेष्टा से चले थे। यात्रा का मार्ग अनिश्चित होने से भ्रमण करते-करते ये नये देशों में पहुँच गये थे। इस प्रकार ढूँढ़े हुए नए देशों से भी व्यापारिक सम्बन्ध स्थापित किया गया और इसके द्वारा तीसरी नीति का पालन हुआ।

हालैण्ड और पुर्त्तगाल के उदाहरण से इँगलैंड ने भी जहाज़ की कम्पनियाँ खोलीं और संसार के वाणिज्य-व्यापार में, माल ढोनेवालों के रूप में भाग लिया। सोलहवीं और सत्रहवीं शताब्दी का अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार इसी नियम पर चलता रहा। इस समय तक व्यापार-सफलता केवल पदार्थ ले जाने के ख़र्च की मात्रा पर निर्भर थी, क्योंकि अभी तक पदार्थ बनाने में मूल्य की कमी करने के उपाय नहीं निकल पाए थे। व्यापार प्रतिद्वन्द्विता केवल जहाज़ की कम्पनियों की प्रतिद्वन्द्विता थी, जिनको सफल बनाने के लिए वहाँ के राष्ट्र भी पूरी सहायता देते थे। बड़ी-बड़ी जहाज़ की कम्पनियाँ स्थापित हुईं, जिनमें जनसधारण के अतिरिक्त राज्य भी धन से सहायता करता था। इनमें कुछ कम्पनियाँ तो राष्ट्राधीन ही होती थीं।

वाणिज्य-व्यापार की प्रतिद्वन्द्विता बढ़ने से इन जहाज़-कम्पनियों ने भिन्न-भिन्न देश के व्यापारियों को अपने अधीन रखने के लिए उन्हें धन उधार देना प्रारम्भ किया। इस प्रकार उपार्जित धन को सूद पर देकर ये अतिरिक्त धन भी कमातीं और ऋणी व्यापारियों का सामान भी उनके जहाज़ों को ढोने के लिए मिलता रहता। कहीं-कहीं पर इन विदेशी जहाज़-कम्पनियों ने अपने देशवासियों द्वारा सुदूर देशों में व्यापार-कम्पनियाँ भी खुलवाईं, जो वहाँ के देश का बना हुआ अथवा कच्चा माल अपने देश की जहाज़-कम्पनियों द्वारा बाहर भेजतीं और इन जहाज़-कम्पनियों द्वारा लाया हुआ माल उस देश में बेचतीं। ये नवीन विदेशी कम्पनियाँ अपने देशवासियों से धन लेकर इन देशों में वाणिज्य-व्यापार करतीं और अपने देश का व्यापार बढ़ाने की चेष्टा करतीं। इस प्रथा के चलने पर देश के व्यापारियों के लाभ के लिए एक और मार्ग बन गया और मर्कन्टाइलिस्टों की इच्छापूर्ति के लिए इस नई नीति का भी उपयोग किया गया। इस समय की 'साउथ सी कंपनी', जो दक्षिणी अमेरिका में व्यापार करती थी, अथवा 'ईस्ट इंडिया कंपनी', जो भारतवर्ष में व्यापार करती थी, नामक कम्पनियाँ विशेषकर उल्लेखनीय हैं।

देशी व्यापारियों को धन उधार देने की प्रथा के चलने के बाद विदेशी महाजनों ने इन देशों में जाकर वाणिज्य-व्यापार के साथ-साथ बैंक का कार्य भी प्रारम्भ कर दिया। इसी व्यापार के द्वारा संसार के लगभग सब देशों में यहूदी लोग अपना धन लेकर पहुँच गए और क्रमशः उस देश के व्यापार-व्यवसाय पर अधिकार जमाने लगे। केवल यही नहीं, इन विदेशी महाजनों ने व्यापारियों तथा कारीगरों को धन देकर उत्पादन-क्षेत्र में भी प्रभुत्व स्थापित किया और इस प्रकार वहाँ के आर्थिक क्षेत्र में भी बहुत-कुछ इन विदेशियों का प्रभाव पड़ा। कभी-कभी बैंकों द्वारा उस देश के सिक्के का मूल्य अन्य देशों के सिक्कों की मात्रा में घटा-बढ़ाकर अपने देश का पदार्थ-व्यापार बढ़ाया गया।

सत्रहवीं तथा अठारहवीं शताब्दी में लगभग ५० वर्ष तक अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के क्षेत्र में जहाज़-कम्पनियों की प्रतिद्वन्द्विता एवं देशी व्यापारियों पर प्रभुत्व-स्थापना करने और उन्हें अपना मित्र अथवा अधीन बनाए रखने की नीति द्वारा तथा अपने देश के व्यापार-वाणिज्य तथा जहाज़ों का भाड़ा, उधार दिए हुए धन का सूद, देश के व्यापार में लगे हुए धन के लाभ आदि द्वारा ही अनुकूल-व्यापार-अवशेष बनाये रक्खे जाने की चेष्टा होती रही। तब अठारहवीं शताब्दी के मध्यकाल के लगभग इङ्गलैण्डवालों ने पदार्थ-उत्पादन के लिए मशीनों की सहायता लेने की युक्ति निकाली, जिससे सारे आर्थिक क्षेत्र में क्रान्ति प्रस्तुत हो गई, जिसका प्रभाव अंतर्राष्ट्रीय व्यापार पर सबसे अधिक पड़ा। अगले लेख में हम इसी की कहानी आपको सुनाएँगे।
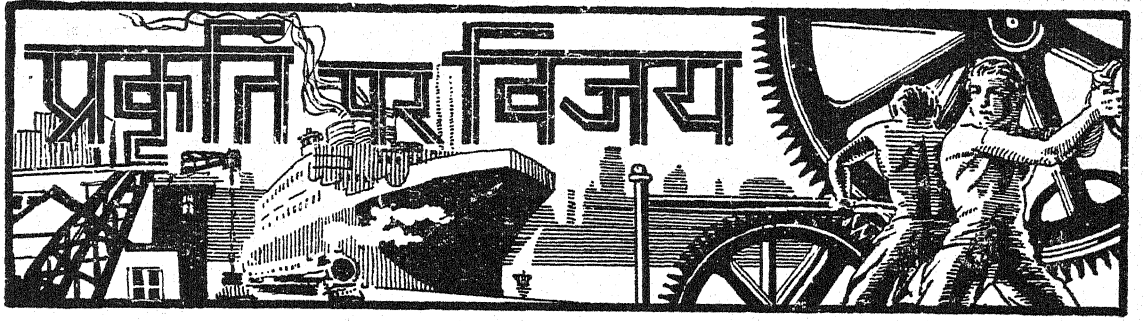
धरती पर विजय—(७) कृत्रिम जलमार्ग या नहरें

स्वेज़ और पनामा नहरों की कहानी

वायु, जल और स्थल पर विजय प्राप्त करनेवाला वैज्ञानिक अपने यातायात के साधनों को उत्तरोत्तर परिष्कृत करता रहा। रास्ते में मीलों लम्बी नदी आ आ गई तो ऊँचा पुल बनाकर उसे पार किया, सामने पहाड़ आ गया तो उसे काटकर सुरंग बना ली, और इस प्रकार आगे बढ़ने के लिए रास्ते का निर्माण कर लिया। समुद्र में यात्रा करते समय यदि किसी स्थान पर स्थलडमरूमध्य आ गया तो उसे भी काटकर अपने लिए इस पार से उस पार जलमार्ग बना लेने की हविस को आधुनिक युग का मानव रोक न सका।

आज से पचास वर्ष पहले भी यदि किसी विचारशील व्यक्ति से पूछा जाता कि भूमण्डल पर जलमार्ग की सहूलियत के लिए वह किन-किन स्थानों पर भूमिखण्ड को काटकर नहर बनाना चाहेगा तो निस्सन्देह सबसे पहले उसकी उँगली स्वेज़ और पनामा के पतले भूमिखण्डों पर पड़ती। स्वेज़ के जलमार्ग के न खुले होने से योरप के जहाज़ों को भारत आने के लिए 'केप आफ़ गुड होप' का चक्कर लगाना पड़ता था—इस प्रकार ४००० मील लम्बा रास्ता उन्हें व्यर्थ ही तय करना पड़ता। अटलाण्टिक से पैसिफ़िक महासागर में जानेवाले जहाज़ों को भी 'केप आफ़ हार्न' होकर पूरे दक्षिणी अमेरिका के समुद्र-तट का चक्कर लगाना पड़ता था। इस प्रकार उन्हें लगभग ८००० मील की दूरी व्यर्थ में तय करनी पड़ती।

स्वेज़ को काटकर कृत्रिम जलमार्ग तैयार करने की योजना आज से ३२४० वर्ष पहले मिस्र के तत्कालीन बादशाह रामसेज़ के मस्तिष्क में भी आई थी! उसकी योजना थी कि स्वेज़-स्थलडमरूमध्य में स्थित कड़वी झील तक लालसागर से एक नहर खोदी जाय, फिर इस झील का सम्बन्ध एक नहर द्वारा नील नदी से स्थापित कर दिया जाय। इस बात का उल्लेख मिलता है कि उसने अपनी यह योजना कार्यान्वित भी की, किन्तु कुछ कारणों से वह इसे पूरी न कर सका। इराक़ में दजला और फरात की घाटियों में ईसा से १००० वर्ष पूर्व लोगों ने सीधी नहरें बना ली थीं। पहली-दूसरी शताब्दी तक ये नहरें सिंचाई तथा आने-जाने के काम के लिए प्रयोग में आती रही थीं। इन नहरों के पेंदे और किनारों पर ईंटें जड़ी हुई थीं—तत्कालीन जलसेना के बेड़े इन नहरों के रास्ते एक स्थान से दूसरे स्थान को भेजे जाते थे!

मिस्र के बादशाह टालमी द्वितीय (ईसा से २६० वर्ष पूर्व) के समय में एक नहर द्वारा नील नदी का लालसागर से पहली बार सम्बन्ध स्थापित हुआ। यह नहर ३७ मील लम्बी थी—इसकी चौड़ाई १०० फ़ीट और गहराई ४० फ़ीट थी। यद्यपि टालमी के उपरान्त अन्य बादशाहों ने इस नहर को चौड़ा भी कराया, किन्तु इस नहर में से होकर यात्री और माल ढोनेवाले जहाज़ आसानी के साथ आ-जा न सकते थे। फिर दसवीं शताब्दी तक नील नदी की बाढ़ की मिट्टी से नहर का बहुत-कुछ हिस्सा एकदम पट गया।

तदुपरान्त सदियों तक इस योजना की ओर किसी का ध्यान नहीं गया। सन् १७९८ में नेपोलियन बोनापार्ट ने स्वेज़ नहर के निर्माण के उद्देश्य से अपने इञ्जीनियरों द्वारा इस प्रदेश की पैमायश भी कराई। किन्तु उसके इञ्जीनियरों ने कुछ अधिक आशाजनक रिपोर्ट न दी। साथ ही अंग्रेजों ने स्वेज़-स्थलडमरूमध्य पर अपना अधिकार जमाकर नेपोलियन के इरादे को मिट्टी में मिला दिया। फिर अंग्रेज़ों ने भी उक्त योजना के महत्त्व को आँका। दिन-दूने-रात चौगुने बढ़ते हुए भारत-साम्राज्य और इङ्गलैण्ड का नाता
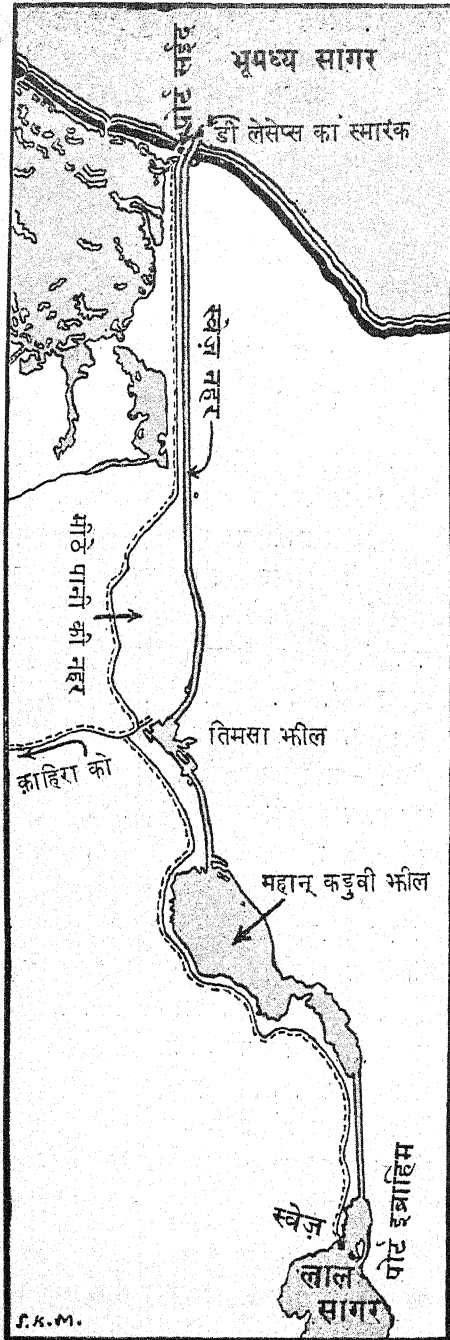
स्वेज़-नहर का मानचित्र

भूमध्यसागर और लालसागर के बीच के इस स्थलडमरूमध्य को, जो अफ्रीका और एशिया महाद्वीपों को जोड़ हुए है, काटकर लगभग १०० मील लंबी नहर बना ली गई है; जिससे समुद्री मार्ग से पूर्वी एशिया से योरप का फ़ासला मानों ४००० मील कम हो गया है !

धीरे-धीरे दृढ़ हो रहा था। इस बात की आवश्यकता प्रतीत हुई कि इङ्गलैण्ड के जहाज़ जल्दी-से-जल्दी बम्बई और सूरत के बन्दरगाहों तक पहुँच जाया करें। इस ज़रूरत को पूरी करने के लिए १८५७ में क़ाहिरा से स्वेज़ तक एक रेलवे लाइन का निर्माण किया गया। किन्तु रेलगाड़ी केवल सवारी और डाक ढोने के काम में आती थी। हज़ारों टन तिजारती माल का ढोना इसके बूते के बाहर ही था।

इसी दर्मियान क़ाहिरास्थित फ्रेञ्च राजदूत फर्डिनेन्ड-डी-लेसेप्स ने स्वेज़-नहर की योजना को कार्यान्वित करने के उद्देश्य से १८५४ में मिस्र के वायसराय सईद पाशा से आज्ञापत्र भी प्राप्त कर लिया। सईद पाशा ने डी-लेसेप्स को, उस स्थान से जो अब पोर्ट सईद कहलाता है, तिमसा झील और कड़ुवी झीलों से होकर स्वेज़ तक नहर बनाने की इजाज़त दी थी। डी-लेसेप्स ने पैमायश करके यह मालूम कर लिया था कि लालसागर तथा भूमध्यसागर दोनों में पानी की सतह एक-सी ऊँचाई पर है। किन्तु बीच के प्रदेश में मीठा पानी कहीं लभ्य न था, और कड़ुवी झील के पानी की सतह समुद्र की सतह से ३७ फ़ीट नीची थी। अतः इस स्कीम के विरोधियों ने यह प्रचार करना आरम्भ किया कि यदि यह नहर खुदी तो मिस्र का सारा भूप्रदेश जलमग्न हो जायगा ! ब्रिटिश राजनीतिज्ञों ने डी-लेसेप्स की स्कीम पर नाक-भौं सिकोड़ा। उनका कहना था कि पूर्व में अपनी स्थिति मज़बूत बनाने के लिए फ़्रान्सीसियों ने यह चाल खेली है। अतः ब्रिटेन ने इस स्कीम को कार्यान्वित करने में तनिक भी सहयोग नहीं दिया और न नहर-निर्माण करनेवाली कम्पनी से एक पैसे का शेयर ही ख़रीदा। बेचारे फ्रान्सीसी सौदागर, किसान तथा आम जनता ने यथाशक्ति शेयर ख़रीदे, किन्तु आवश्यक रक़म ये लोग भी जमा न कर पाये। धन की कमी के कारण यह कम्पनी उलटने ही वाली थी कि सईद पाशा ने बहुत-से शेयर ख़रीदकर यह कमी पूरी कर दी।

सईद पाशा द्वारा दिए गए आज्ञापत्र में एक यह भी शर्त्त थी कि मिस्र की सरकार की ओर से आवश्यकतानुसार संख्या में कुली जुटाए जायँगे। वहाँ के मूल-निवासियों को सरकार मजबूर कर सकेगी कि वे नहर की खुदाई पर काम करें। १८५९ में खुदाई का काम आरम्भ होते ही सईद पाशा ने ८००० मज़दूर नहर पर काम करने के लिए भेजे। सबसे पहले नील नदी वाली पुरानी नहर साफ़ की गई, ताकि इसके द्वारा पीने के लिए मीठा पानी भीतर पहुँचाया

जा सके। ६ फ़ीट गहरी और ४० फ़ीट चौड़ी मीठे पानी की इस नहर के तैयार हो जाने के बाद पत्थर, चूना, गारा, लोहा आदि अन्य सामान ले जाने का काम भी इसी नहर से लिया जाने लगा।

मुख्य नहर खोदने के पहले नहर के मुहाने पर भूमध्यसागर में दो मज़बूत दीवालें (ब्रेकवाटर) एक ७००० फ़ीट लम्बी और दूसरी ६००० फ़ीट लम्बी तैयार की गईं, ताकि समुद्र की लहरों का ज़ोर नहर के मुहाने पर कम हो जाय। समुद्र की ओर इन दोनों दीवालों के बीच का फ़ासला कम है। ज्यों-ज्यों किनारे की ओर ये दीवालें बढ़ती हैं, इनके बीच का फ़ासला भी अधिक होता जाता है। आस-पास कहीं पर पत्थर लभ्य न थे, अतः बीस-बीस टन वज़न के कन्क्रीट सीमेन्ट के ढोके समुद्र-तट पर ही तैयार किए गए। फिर इन्हें जहाज़ पर से समुद्र में डाल देते। इस प्रकार २ लाख ५० हज़ार टन के ढोके समुद्र में डालकर ये दोनों 'ब्रेकवाटर' तैयार किए गए। इनकी लम्बाई सवा मील से ऊपर पहुँचती है। इनका निर्माण ही स्वतः एक भारी ख़र्च का काम था। बावजूद अनेक कठिनाइयों के नहर की खुदाई का काम भर्ती किये गए मज़दूरों की मदद से १८६३ तक चलता रहा। किन्तु उसी वर्ष सईद पाशा की मृत्यु हो गई। नये वाइसराय इस्माइल पाशा नहर की स्कीम के प्रति उतने उत्साही न थे, फलस्वरूप नहर की कम्पनी और पाशा के बीच अनेक झगड़े उठ खड़े हुए। झगड़े का निबटारा इस प्रकार हुआ कि पाशा ने अपने तमाम मज़दूरों को नहर के काम से वापस बुला लिये, और इसके बदले में उन्हें ३० लाख पौण्ड अदा करने पड़े।

सस्ती मज़दूरीवाले कुलियों के हट जाने से डी-लेसेप्स के सामने एक भारी कठिनाई आ खड़ी हुई। अब तक फावड़े की मदद से मिट्टी खोदी जाती थी और हज़ारों की संख्या में मज़दूर उसे टोकरियों में भरकर फेंकते थे। किन्तु अब सिवाय मशीनों का अवलंब लेने के डी-लेसेप्स के पास अन्य कोई चारा न रह गया। निदान दुनिया के कोने-कोने से उसने क्रेन, ड्रेजर और एक्सकेवेटर मँगाए। वहीं रेगिस्तान पर रेल की हलकी पटरियाँ बिछायीं, और लाइट-ट्रेन पर इन विशालकाय मशीनों के पुर्ज़े खुदाई के स्थान पर ले आए गए तथा वहीं विशेषज्ञ मिस्त्रियों ने उन्हें फ़िट किया। ये ड्रेजर नहर के पेटे से मिट्टी खुड़ककर दोनों किनारों पर उसे बाँध के रूप में जमा कर देते। लगभग ३००
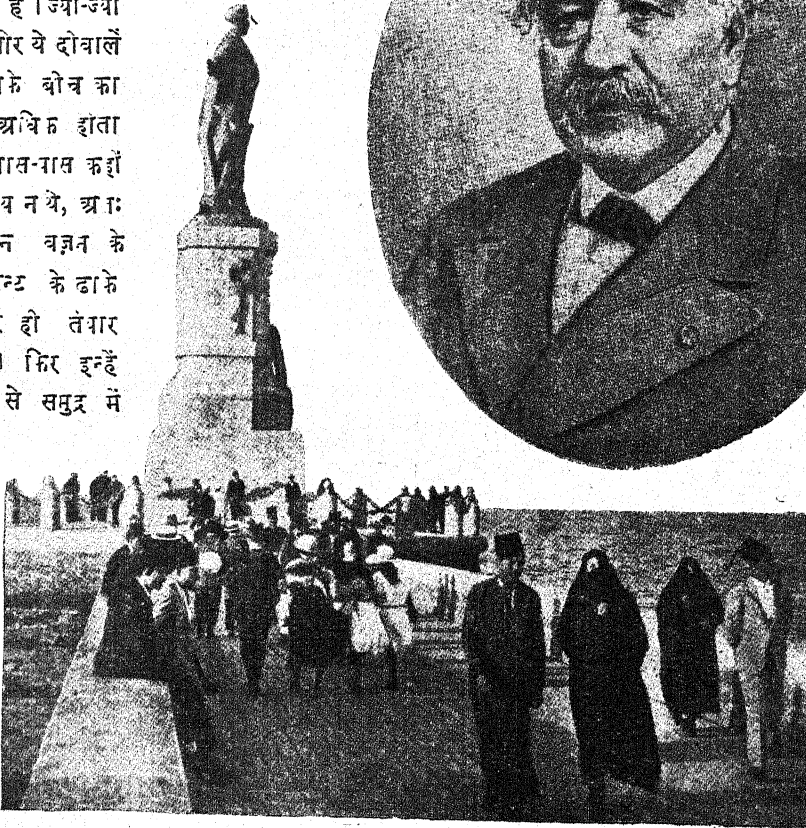
स्वेज़-नहर के पश्चिमी मुहाने पर स्थित पोर्ट सईद बंदरगाह पर इस नहर के निर्माता महान् साहसी डी-लेसेप्स का स्मारक। (ऊपर दाहिनी ओर) **डी-लेसेप्स का चित्र।**

ड्रेजर खुदाई के लिए काम में लाये जा रहे थे और प्रति मास ३० लाख घन गज़ मिट्टी इन ड्रेजरों की सहायता से नहर के पेटे से निकाली जाती थी !

नहर का प्रवेशद्वार पोर्ट सईद के नाम से पुकारा जाने लगा था, क्योंकि सईद पाशा ही के उद्योग से नहर की स्कीम कार्यान्वित हो सकी थी। आधी दूर तक नहर खुद जाने पर वहाँ एक नया शहर बसने लगा। नये वायसराय इस्माइल पाशा के नाम पर इस शहर का नाम इस्माइलिया पड़ गया। इस्माइलिया के आगे ही नहर तिमसा झील में प्रवेश करती है। इस झील से आगे निकलने पर एकदम सूखे प्रदेश से होकर आठ मील तक इस नहर को गुज़रना होता है। तदुपरान्त कड़ुवी झील से होकर स्वेज़ नहर लगभग २५ मील की लम्बाई तक गुज़रती है।

काम शुरू करने के लगभग १० वर्ष बाद नवम्बर १८६८ में बड़े समारोह के साथ स्वेज़-नहर का उद्घाटन हुआ। यद्यपि स्वेज़-नहर की कुल लम्बाई उन दिनों ९१ मील थी, किन्तु झीलों का सिलसिला इतना लम्बा था कि इञ्जीनियरों को वास्तव में ३० मील से अधिक खुदाई नहीं करनी पड़ी थी। १९१४ में स्वेज़-नहर की गहराई, चौड़ाई और लम्बाई भी बढ़ायी गई ताकि बड़े-बड़े दो जहाज़ एक साथ विपरीत दिशाओं में आ-जा सकें। इस नहर की वर्त्तमान लम्बाई १०१ मील है। इसकी गहराई कहीं पर भी ३० फ़ीट से कम नहीं है। चौड़ाई भी २०० फ़ीट से अधिक ही है।

इकहरी लाइनवाली रेलवे पर जिस प्रकार ब्लॉक-सिगनल द्वारा लाइन भिन्न-भिन्न सेक्शन में बँटी रहती है, उसी प्रकार स्वेज़-नहर को भी विभिन्न सेक्शनों में बाँट दिया गया है। ब्लाक-सिगनलों द्वारा जहाज़ों के आने-जाने पर नियंत्रण रक्खा जाता है। सिगनल-कन्ट्रोल का प्रधान आफ़िस इस्माइलिया में है। यहाँ पर केबिन के अन्दर स्वेज़-नहर का एक छोटा-सा मॉडल बना हुआ है। इस मॉडल-नहर में नन्हें-नन्हें जहाज़ों को एक स्थान से दूसरे स्थान को हटाते रहते हैं—खिलौने के रूप में प्रत्येक जहाज़ उस जहाज़ को प्रकट करता है जो वास्तव में स्वेज़-नहर में जा रहा हो। यह जहाज़ ज्यों-ज्यों आगे बढ़ता है, केबिन के मॉडल में उसे प्रकट करनेवाला नन्हा जहाज़ भी उसी के अनुसार आगे बढ़ा दिया जाता है। केबिन का संचालक किसी भी क्षण बता सकता है कि उस समय नहर में कौन-कौन-से जहाज़ कहाँ हैं ! नहर पार करने में साधारणतः जहाज़ को १२-१४ घण्टे लगते हैं।

इस नहर के निर्माण में अब तक कुल ४ करोड़ पौण्ड ख़र्च हो चुके हैं—जिसमें से २ करोड़ के हिस्से अंग्रेज़ों के हाथ में हैं। अवश्य जिन दिनों नहर-निर्माण का काम शुरू हुआ था, अंग्रेज़ों ने एक पाई का भी शेयर नहीं ख़रीदा। किन्तु १८७५ में इस्माइल पाशा को अपने कुलियों को खुदाई पर के काम से हटा लेने के कारण ३० लाख पौण्ड का तावान देना पड़ा था, तथा अन्य कारणों से उसने मजबूर होकर अपने शेयर बेचने चाहे। ब्रिटिश जनता की भूल सुधारने के उद्देश्य से तत्कालीन प्राइम मिनिस्टर डिज़राएली ने चुपके-चुपके इस्माइल पाशा से ४० लाख पौण्ड में १७६६०२ शेयर ख़रीद लिये। इस प्रकार उसने स्वेज़-कम्पनी की प्रबन्धकारिणी समिति में ब्रिटिश बहुमत प्राप्त कर लिया। नाम के लिए स्वेज़-कम्पनी मिस्री है, किन्तु इसके ३३ डायरेक्टरों में २० फ्रेञ्च हैं, १० ब्रिटिश है और एक डच है ! पोर्ट सईद पर डी-लेसेप्स की एक भव्य प्रस्तर-मूर्त्ति बनी हुई है जो प्रत्येक यात्री को स्मरण दिलाती है कि उद्योगी पुरुष के लिए संसार में कुछ भी असम्भव नहीं है।

अब हम देखेंगे कि पनामा-नहर का निर्माण किस प्रकार हुआ। आधुनिक इञ्जीनियरिंग की यह सर्वोत्कृष्ट कृति समझी जाती है। कोलम्बस द्वारा जब इस नई दुनिया का पता स्पेन-वालों को लगा तो कुछ दिनों उपरान्त लोगों ने यह महसूस किया कि अटलाण्टिक से पैसिफ़िक महासागर में जाने के लिए समूचे दक्षिणी अमेरिका का चक्कर लगाना पड़ता है। यदि पनामा-स्थलडमरूमध्य को काटकर एक किनारे से दूसरे किनारे तक जलमार्ग बनाया जा सके तो उत्तरी अमेरिका के एक समुद्र-तट से दूसरे समुद्र-तट को जानेवाले जहाज़ों का समय भी बचेगा तथा केपहार्न के निकट के भयावह तूफ़ान और झंझावात की मुसीबतों से भी छुट्टी मिलेगी।

उन्हीं दिनों फ़िलिप द्वितीय (स्पेन के बादशाह) से स्पेन के एक प्रसिद्ध लेखक ने पनामा-नहर की स्कीम के बारे में कहा था "यह सही है कि इस स्थलडमरूमध्य में पहाड़ी प्रदेश अधिक हैं, किन्तु ईश्वर ने हमें हाथ भी तो दिये हैं, हम उन्हें काटकर अपने लिए नहर बना सकते हैं।" किन्तु नहर खोदने की यह स्कीम धर्म के ठेकेदारों को पसन्द न आयी। मैड्रिड के आर्कबिशप ने इस सम्बन्ध में फतवा दिया—"ईश्वर ने जिन्हें एक दूसरे से जोड़ रखा है, उन्हें अलग करना मनुष्य के लिए उचित नहीं है!" इसी प्रकार फ़िलिप द्वितीय के ज़माने से ३०० वर्ष बाद तक पनामा-नहर की स्कीम कल्पना-जगत् में ही पड़ी रही। जब स्वेज़-नहर बनकर तैय्यार हुई तो पनामा-स्थल-

स्वेज़-नहर के पश्चिमी द्वार पर स्थित पोर्ट सईद बंदरगाह
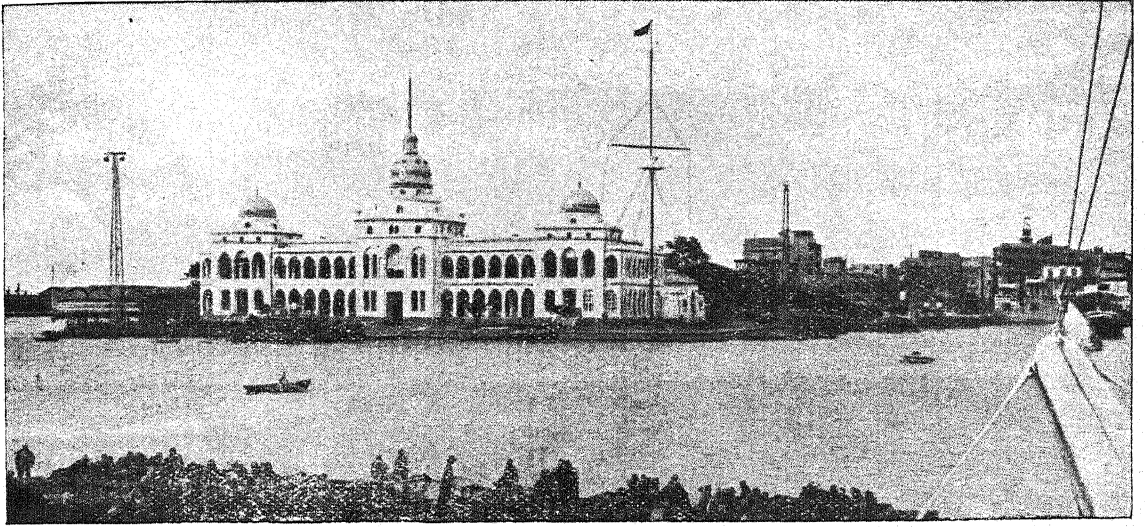
यहीं से जहाज़ भूमध्यसागर में से स्वेज़ की इस कृत्रिम जल-प्रणाली में प्रवेश करते और इस प्रकार आनन-फानन में लालसागर के रास्ते हिन्द महासागर में जा पहुँचते हैं !
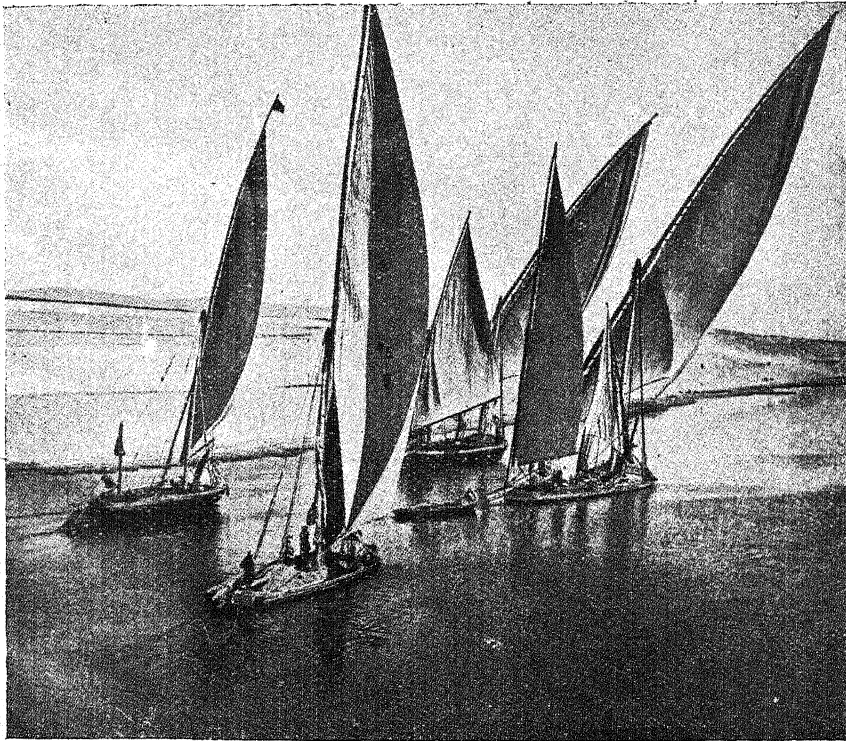
स्वेज़-नहर में से होकर गुज़र रही कुछ छोटी व्यापारिक नौकाएँ

जो इसी से संलग्न मीठे पानी की नहर के रास्ते नील नदी की भी सैर कर आती हैं।
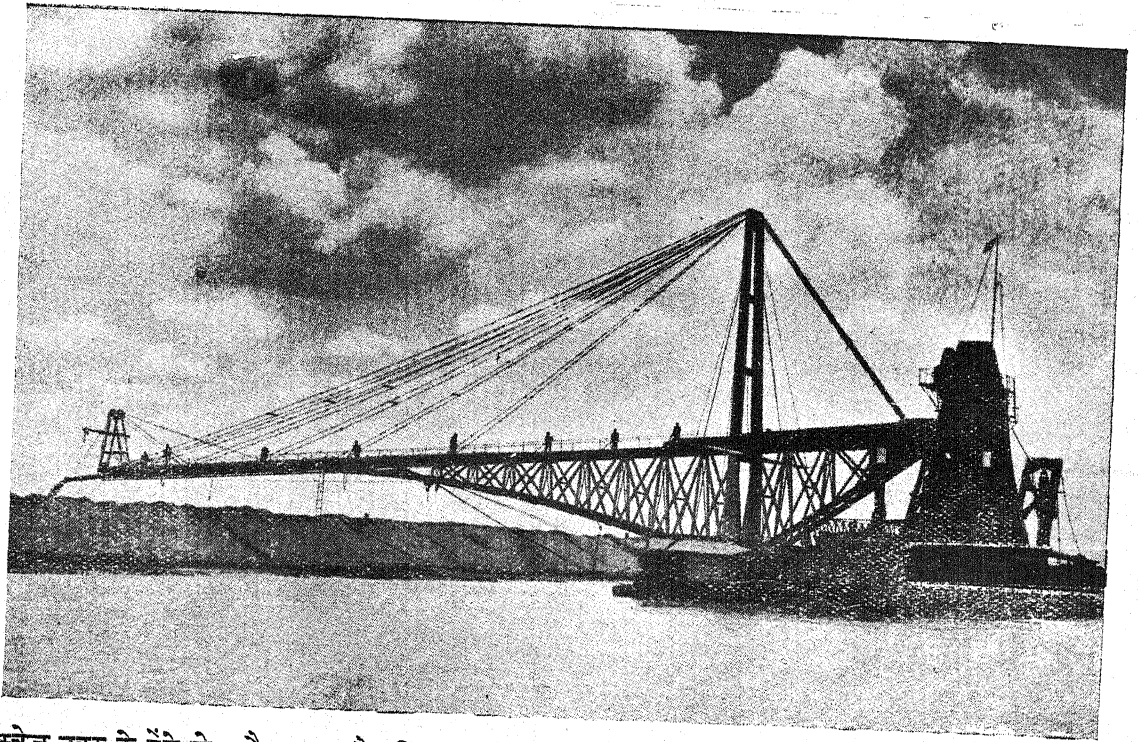
स्वेज़-नहर के पेंदे से सदैव बालू और मिट्टी आदि निकालते रहनेवाले अनेक दैत्याकार ड्रेजरों में से एक
ये यंत्र नहर को छिछली हो जाने से बचाते हैं। पहले नहर २६ फ़ीट गहरी थी। अब उसकी गहराई ४० फ़ीट तक है।
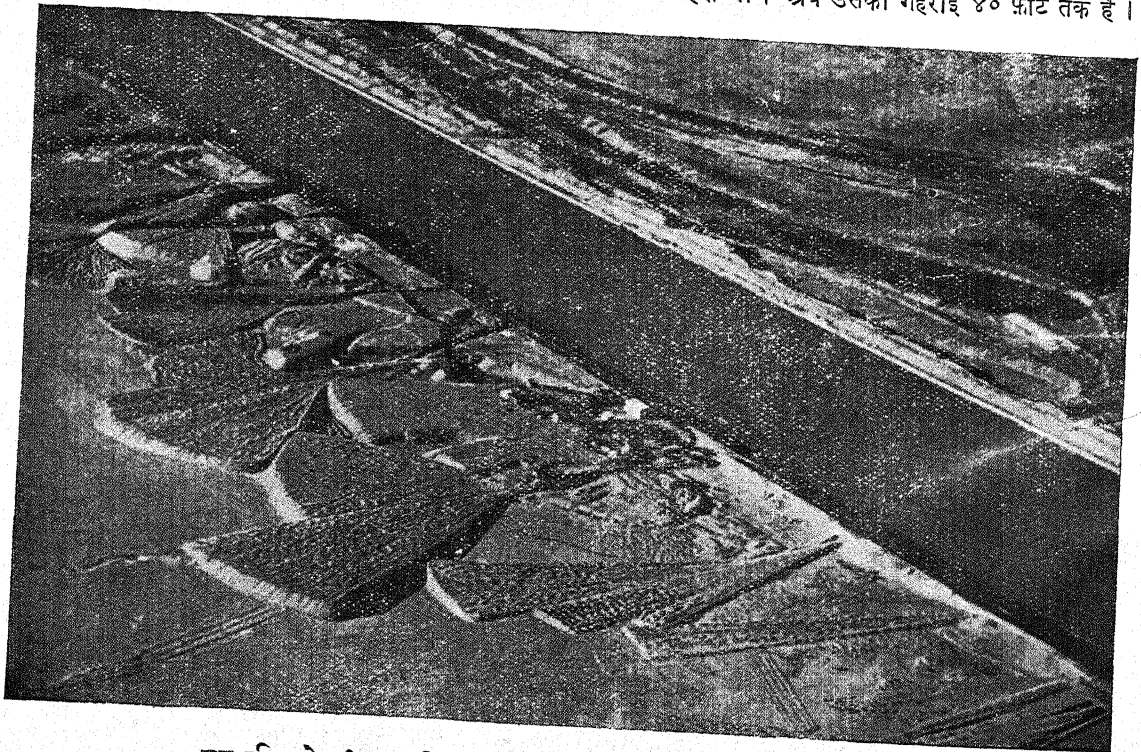
मरुभूमि को चीरकर निकाली गई स्वेज़-नहर का एक विहंगम दृश्य
किनारे पर पंखेनुमा जो बालू के ढेर-से लगे हैं वे ड्रेजरों द्वारा नहर के पेंदे से निकाली गई बालुकाराशि से ही बने हैं।

डमरूमध्य की ओर एक बार फिर लोगों का ध्यान आकृष्ट हुआ। अमेरिका के संयुक्त राष्ट्र ने सोचा कि अमेरिका के छोर पर अमेरिकनों द्वारा ही पनामा-नहर का निर्माण होना चाहिए। किन्तु इसी बीच एक फ्रान्सीसी जलसेना के अफ़सर ने पनामा-स्थलडमरूमध्य की आनन-फ़ानन में पैमायश की और उसने कोलम्बिया राज्य से इस बात के लिए आज्ञा प्राप्त कर ली कि उसकी ही कम्पनी को पनामा-नहर खोदने का हक़ प्राप्त हो तथा वही कम्पनी उस नहर का प्रबन्ध सँभाले।

पर इस फ्रेञ्च अफ़सर की स्कीम इस स्थिति से एक इंच भी आगे न बढ़ सकी। आख़िर स्वेज़ के संबंध में ख्यातिप्राप्त इञ्जीनियर डी-लेसेप्स ने उक्त अफ़सर से नहर खोदने की आज्ञा ४ लाख पौण्ड में ख़रीद ली। यह घटना १८७६ की है। स्वेज़-नहर की सफलता के नाम पर फ्रेञ्च जनता ने डी-लेसेप्स की कम्पनी को प्रचुर मात्रा में धन दिया। फ़रवरी १८८१ में डी-लेसेप्स ने पनामा की खुदाई का काम बड़े समारोह के साथ आरम्भ किया। डी-लेसेप्स की स्कीम थी कि स्वेज़ की भाँति पनामा-नहर भी एक सिरे से दूसरे सिरे तक समतल धरातल पर खोदी जाय। कुल २ करोड़ ४० लाख पौण्ड का तख़मीना था। डी-लेसेप्स को अपनी इस स्कीम की सफलता में इतना अधिक भरोसा था कि १८८१ में खुदाई आरम्भ होने के उपलक्ष्य में बुलाई गई सभा में आपने अभ्यागत इञ्जीनियरों को निश्चय रूप से निमंत्रित भी कर दिया कि १८८८ में नहर के उद्घाटन के सुअवसर पर वे अवश्य पधारने का कष्ट करेंगे!

किन्तु डी-लेसेप्स की स्कीम शत-प्रति-शत असफल साबित हुई। सन् १८८८ तक पहुँचते-पहुँचते, जब कि डी-लेप्सेस ने नहर के उद्घाटन संबंधी उत्सव के आयोजन की आशा की थी, पनामा-नहर-कम्पनी का दिवाला निकल चुका था! फ्रांस के हज़ारों घर इस कम्पनी की काली करतूतों के कारण मिट्टी में मिल गए। कम्पनी के ऊपर ७ लाख पौण्ड का ऋण चढ़ चुका था। नहर की खुदाई का यह हाल था कि १२० वाष्प-इंजिन गोदाम में पड़े-पड़े मोर्चा खा रहे थे, उन्हें काम में लाने की नौबत ही नहीं आई! भाँति-भाँति की मशीनें भी इधर-उधर गड्ढों में पड़ी-पड़ी नष्ट हो रही थीं। अनेक ऊलजलूल चीज़ों पर भी व्यर्थ में पानी की भाँति धन बहाया गया था। उदाहरण के लिए, उद्घाटन के उत्सव के आयोजन के लिए बड़े आकार के कई पियानो और १५००० फ़ैन्सी टार्च आदि भी पहले ही से ख़रीदकर वहाँ (पनामा) पहुँचा दिये गये थे! नहर की खुदाई में अब तक कुल १० करोड़ पौण्ड डूब चुके थे! जानकारों का कहना है कि इस गहरी रक़म का केवल एक तिहाई भाग नहर की खुदाई में वास्तव में लगा, शेष एक तिहाई फ़जूलख़र्ची में नष्ट हुआ, तथा बाक़ी रक़म कम्पनी के अधिकारियों ने हड़प कर ली। कम्पनी की इन हरकतों के कारण समस्त फ्रेञ्च जाति के माथे कलंक का टीका लगा। मंत्रीगण, समाचारपत्रों के अध्यक्ष, गवर्नमेण्ट के उच्च पदाधिकारीगण आदि सभी ने घूँस की गहरी रक़म खायी थी। फ्रेञ्च गवर्नमेण्ट ने इन तमाम अपराधियों पर मुक़दमे भी चलाए। इस मुक़दमे के दौरान में अनेक और रहस्य खुले।

इसके पश्चात् क़रीब-क़रीब १५ साल तक पनामा-नहर का काम एक प्रकार रुका-सा रहा—इस दर्मियान कई एक फ्रेञ्च, ब्रिटिश तथा अमेरिकन कम्पनियों ने पनामा की योजना का भार अपने ऊपर लेना चाहा। अमेरिका की एक कम्पनी ने तो पनामा से कुछ दूर हटकर निकारगुआ झील में से होकर नहर खोदने की भी स्कीम सोची। इस कम्पनी ने लगभग १० लाख पौण्ड लगाकर ६ फ़र्लांग लम्बी नहर भी खोद ली, तथा ईंट-पत्थर-लोहा-मशीन आदि ले आने के लिए रेलवे लाइन का भी निर्माण कर लिया। किन्तु इस कम्पनी का भी जल्दी ही दिवाला निकल गया।

आख़िर १९०४ में अमेरिका के संयुक्त राष्ट्र की गवर्नमेण्ट ने डी-लेसेप्स के समूचे कारबार को ८० लाख पौण्ड में ख़रीद लिया, क्योंकि अमेरिकन गवर्नमेण्ट महसूस कर रही थी कि जलसेना को शीघ्रता के साथ पूर्वी तट से पश्चिमी तट को भेज सकने के लिए पनामा-नहर का बनाना अत्यन्त आवश्यक था। संयुक्त राष्ट्र की गवर्नमेण्ट ने पनामा-नहर के दोनों किनारों पर स्थल की एक पतली पट्टी कोलम्बिया गवर्नमेण्ट से प्राप्त करना चाहा ताकि नहर की खुदाई करने में आसानी हो सके, किन्तु कोलम्बिया गवर्नमेण्ट ने ज़मीन देना एकदम अस्वीकार कर दिया। इसी बीच दैवयोग से ४ नवम्बर, १९०४, को पनामा प्रदेश के निवासियों ने कोलम्बिया गवर्नमेण्ट से अपना सम्बन्ध-विच्छेद करके अपनी स्वतंत्र रिपब्लिक अलग से स्थापित कर ली। इस नवीन रिपब्लिक के जन्म के ठीक १४ दिन बाद संयुक्त राष्ट्र और पनामा गवर्नमेण्ट ने एक सन्धिपत्र पर हस्ताक्षर किए, जिसके अनुसार पनामा गवर्नमेण्ट ने नहर के दोनों किनारों पर ५ मील की चौड़ाई तक के भूमिखण्ड पर संयुक्त राष्ट्र को पूर्ण अधिकार प्रदान

कर दिया। वहाँ के न्यायालय, पुलिस, सफ़ाई, कर लगाने आदि का पूरा हक़ संयुक्त राष्ट्र के अधिकार में आ गया। इसके बदले में संयुक्त राष्ट्र ने पनामा गवर्नमेण्ट को २० लाख पौण्ड तो तत्काल दे दिए और साथ ही यह तय पाया कि उक्त तिथि के ६ वर्ष बाद से संयुक्त राष्ट्र पनामा रिपब्लिक को ५० हज़ार पौण्ड वार्षिक कर भी दिया करेगा।

४ मई १६०४ को संयुक्त राष्ट्र की ओर से पनामा-नहर की खुदाई का काम आरम्भ हुआ। शुरू में ६०० मज़दूर काम पर लगाए गए, किन्तु शीघ्र ही इनकी संख्या बढ़ानी पड़ी। उन दिनों पनामा-स्थलडमरूमध्य की जलवायु अत्यन्त ही दूषित थी। रोग-कीटाणुओंवाले मच्छरों की वहाँ भरमार थी। डी-लेसेप्स की कम्पनी के लगभग ४५,००० मज़दूर पिछले प्रयास में मौत की भेंट हुए थे—यहाँ तक कि इस भूमिप्रदेश का नाम ही 'श्वेत व्यक्तियों की क़ब्र' पड़ गया था! अमेरिकन इञ्जीनियरों ने सबसे पहले इस भारी ख़तरे को दूर करना ज़रूरी समझा। पानी के गड्ढों, छोटे-छोटे पोखरों या तथा अन्य ऐसे स्थानों का, जहाँ मच्छर पैदा होते रहते हैं, पानी सुखा दिया गया। जिन गड्ढों से पानी बहाया जा सकता था, वहाँ से पानी निकाला गया, तथा अन्य गड्ढे भर दिए गए। कूड़ा-कर्कट जला दिया गया, नरकुल तथा लम्बी घास कुल काट डाली गई। मकान की खिड़कियों और दरवाज़ों में जालियाँ लगा दी गईं, ताकि घर के अन्दर मच्छर न घुस सकें। हज़ारों मन कुनैन बाँटी गई। फल आश्चर्यजनक हुआ! मृत्यु-संख्या प्रतिसहस्र ७० से घटकर केवल ५ रह गई। खाद्य पदार्थ सीधे अमेरिका से मँगाए जाते थे, ताकि उनमें किसी प्रकार का भी दोष न आ सके। पनामा और कोलोन शहरों को छोड़ अन्यत्र सब कहीं मद्यपान की भी मनाही कर दी गई थी।

पनामा की जल-वायु सुधारने के पश्चात् अमेरिकन इञ्जीनियरों को फ्रेञ्च कम्पनी की ग़ल्तियों को दुरुस्त करना पड़ा। डी-लेसेप्स ने स्वेज़-नहर की भाँति ही पनामा-नहर को भी एक ही धरातल पर खोदना चाहा था। किन्तु पनामा-स्थलडमरूमध्य में भूमि की सतह सब ठौर एक-सी नहीं है। बीच में क्यूलेब्रा की पहाड़ियाँ काफ़ी ऊँची हैं। स्वयं डी-लेसेप्स ने भी बाद में अपनी ग़लती महसूस कर ली थी। अतः अमेरिकन इञ्जीनियरों ने प्रारम्भ में ही यह स्कीम बना ली कि नहर की सतह सब ठौर एक-सी नहीं रक्खी जायगी! इस स्थलखण्ड के मध्यभाग में लगभग ३० मील तक पहाड़ी प्रदेश है। इस प्रदेश में नहर की सतह इधर-उधर की सतह से ८५ फ़ीट ऊँची है! इस प्रकार पहाड़ी खोदने की बहुत-सी मेहनत बच गई।

पनामा-अभियान की तीसरी कठिनाई यह थी कि ठीक उसी रास्ते पर जहाँ से नहर खोदनी थी, चैग्रेस नदी बहती थी। इस नदी को काबू में लाना ज़रूरी था। आख़िर यह तय पाया कि नदी में मज़बूत बाँध डालकर इसे उस पहाड़ी प्रदेश में एक लम्बी-चौड़ी झील में परिवर्तित कर लेंगे। यह झील स्वयं पनामा-नहर का मध्य भाग बन जायगी।

पनामा-नहर के निर्माण में अमेरिकन कम्पनी ने कुल ५० हज़ार व्यक्ति काम पर लगाए। ३०० इंजिन, ५,००० माल-गाड़ियों के डब्बे, १०० वाष्प द्वारा परिचालित क्रेन-फावड़े, २० ड्रेज़र, ५० क्रेन तथा अन्य छोटी-बड़ी सैकड़ों मशीनें दानवों की तरह वहाँ काम करती थीं। प्रतिदिन डेढ़ दो सौ रेलगाड़ियाँ खुदी हुई मिट्टी लादकर इधर-से-उधर दौड़ती
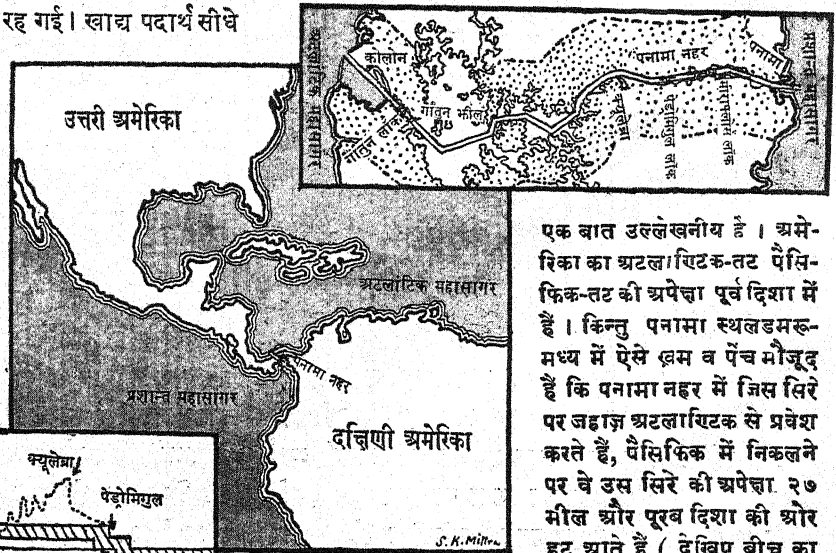
एक बात उल्लेखनीय है। अमेरिका का अटलांटिक-तट पैसिफ़िक-तट की अपेक्षा पूर्व दिशा में है। किन्तु पनामा स्थलडमरूमध्य में ऐसे ख़म व पेंच मौजूद हैं कि पनामा नहर में जिस सिरे पर जहाज़ अटलांटिक से प्रवेश करते हैं, पैसिफ़िक में निकलने पर वे उस सिरे की अपेक्षा २७ मील और पूरब दिशा की ओर हट आते हैं (देखिए बीच का नक़्शा)। ऊपर दाहिनी ओर नहर का साधारण नक़्शा है, नीचे बाईं ओर उसकी सतह की ऊँचाई-नीचाई का मानचित्र है।
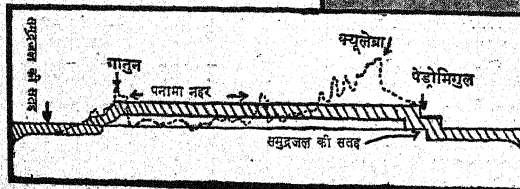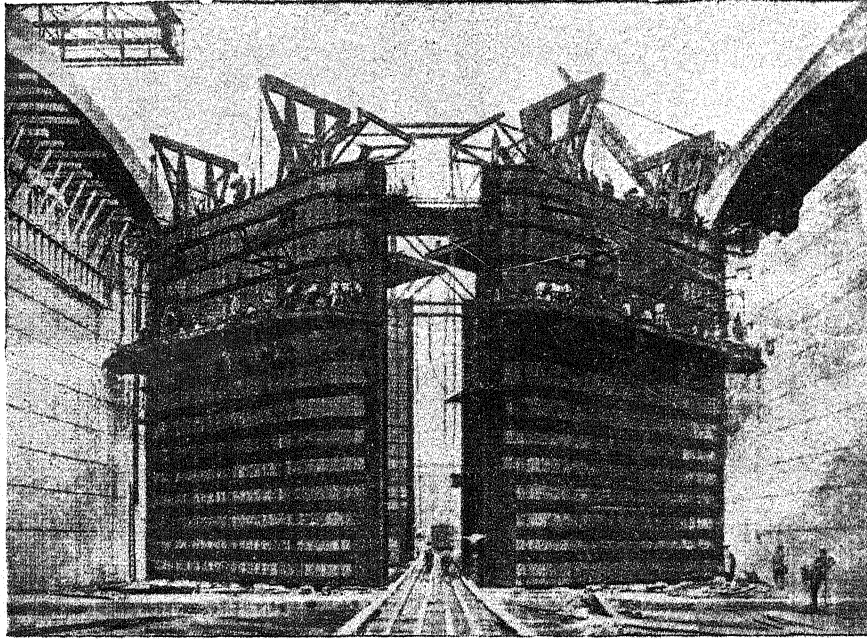
पनामा-नहर के मीराफ्लोर्स नामक लॉक के विशाल फाटकों के निर्माण का दृश्य। यहाँ पर जहाज़ समुद्रतल से ५५ फ़ीट ऊँचे उठा दिए जाते हैं।

फिरतीं। खुदाई का काम ज्यों-ज्यों आगे बढ़ता, रेल की नई पटरियाँ भी आगे को बिछा दी जातीं। चैग्रेस नदी को बाँधना भी कम दुस्तर न था। इस नदी को झील में परिवर्त्तित करने के लिए दो बाँध बनाने पड़े—एक गातुन में, दूसरा गैम्बोआ में। गातुन बाँध १½ मील लम्बा है। पेंदे पर इसकी चौड़ाई आध मील है, ऊपर पतला होते-होते सिरे पर कुल चौड़ाई १०० फ़ीट रह जाती है। यद्यपि बाँध की चोटी समुद्र-सतह से १०५ फ़ीट ऊँची है, किन्तु झील के जल की सतह से बाँध केवल २० फ़ीट ही ऊँचा है। बाँध के बीच में एक द्वार कटा हुआ है। इस द्वार में १७ लोहे के फाटक लगे हुए हैं। वर्षाऋतु में बहुत-सा फालतू पानी इन्हीं फाटकों के रास्ते से निकल जाता है, यह पानी नहर में नहीं जाने पाता।

ऊँची सतह पर इस झील के बन जाने से पहाड़ की खुदाई का काम भी आसान हो गया। फिर भी क्यूलेब्रा पहाड़ में कहीं-कहीं ५०० फ़ीट गहरा रास्ता काटना पड़ा। ढाई हज़ार टन डायनमाइट पहाड़ की इन चट्टानों को उड़ाने के लिए काम में लायी गई थी!

यह जानने के लिए कि पनामा-नहर इञ्जीनियरिङ्ग की सर्वश्रेष्ठ कृति क्यों कहलाती है, हम ख़ास नहर ही का अब सिंहावलोकन करेंगे। अटलाण्टिक महासागर से पैसिफ़िक में जाने के लिए जहाज़ लिमन खाड़ी के मार्ग से पनामा-नहर में प्रवेश करता है। ५०० फ़ीट चौड़े रास्ते पर ६ मील आगे बढ़ने के उपरान्त जहाज़ गातुन बाँध पर आता है। इस स्थान पर लॉक द्वारा जहाज़ को ८५ फ़ीट ऊँचा उठाकर गातुन झील में पहुँचाना पड़ता है! एक-एक करके तीन लॉक द्वारा जहाज़ को ऊपर चढ़ाना होता है। प्रत्येक लॉक १००० फ़ीट लम्बा, ११० फ़ीट चौड़ा और ४१·३ फ़ीट ऊँचा है। ये लॉक दोहरे हैं—एक में से होकर जहाज़ नीचे से ऊपर चढ़ता है, और दूसरे में से होकर ऊपर से नीचे उतरता है। प्रत्येक लॉक जहाज़ को २८·३ फ़ीट ऊँचा चढ़ाता है। गातुन झील २३½ मील लम्बी है—इस लम्बे क्षेत्र में जहाज़ निधड़क तीव्र वेग से धुँआ फेंकते हुए आ-जा सकते हैं। इस झील के दूसरे सिरे पर जहाज़ 'क्यूलेब्रा-कट' से होकर गुज़रता है। तदुपरान्त पेड्रोमिगुल लॉक्स द्वारा जहाज़ ३० फ़ीट नीचे उतरता है, फिर मिराफ्लोर्स लॉक्स पर ५५ फ़ीट नीचे उतरकर जहाज़ पुनः समुद्र-जल की सतह पर आ जाता है! आठ मील और आगे बढ़ने पर जहाज़ पैसिफ़िक में पहुँच जाता है। पनामा-नहर की लम्बाई ५१ मील है। उसके लॉक संसार में अद्वितीय समझे जाते हैं। लॉक के विशाल फाटक ६५ फ़ीट लम्बे, और ७ फ़ीट मोटे हैं—इनकी ऊँचाई ४७ फ़ीट से ८२ फ़ीट तक की है। लॉक के फाटक के पास पहुँचते ही नहर के एक किनारे से दूसरे किनारे तक पानी के अन्दर ही एक मज़बूत ज़ंजीर उठ आती है, जो जहाज़ की गति को एकदम रोक देती है ताकि संयोगवश जहाज़ फाटक से टकरा न जायँ। ज़ंजीर उठाने के लिए जलशक्ति का

प्रयोग किया जाता है। फिर लॉक के फाटक जलयंत्रों की मदद से खोले जाते हैं—अब जहाज़ लॉक के अन्दर प्रवेश करता है। लॉक के अन्दर जहाज़ स्वयं अपने इंजिनों की शक्ति का प्रयोग नहीं करने पाता, क्योंकि ऐसा करने से जहाज़ के फाटक में टकरा जाने का ख़तरा पैदा हो सकता है। अतः जहाज़ को लॉक के किनारे की लाइन पर चलनेवाले रेलवे-इंजिन खींचते हैं। अक्सर दो और कभी-कभी चार-छः या आठ इंजिन इस काम के लिए काम में लाये जाते हैं। जब लॉक के भीतर जहाज़ आ गया तो पीछे के फाटक बन्द कर दिए जाते हैं। लॉक की कोठरी में अब दीवाल में बने सूराख़ों के रास्ते पानी प्रवेश कराते हैं—धीरे-धीरे जहाज़ ३० फ़ीट ऊँचा उठ जाता है! अब द्वितीय लॉक का फाटक खुलता है, और इन्हीं क्रियाओं की फिरपुनरावृत्ति होती है, फलस्वरूप जहाज़ ३० फ़ीट और उठ जाता है। तदुपरान्त तीसरे लॉक द्वारा २५ फ़ीट ऊँचा उठकर जहाज़ अपनी पूर्व सतह की अपेक्षा ८५ फ़ीट की ऊँची सतह पर चढ़ आता है। इस सिद्धान्त को समझने के लिए देखिए अंक ६ पृ० ६६६ का चित्र।

जहाज़ को खींचनेवाले इंजिन विद्युत्शक्ति से चलते हैं। गातुन बाँध के लौह फाटक गिरनेवाले जल से पैदाकर यह विद्युत्शक्ति ली जाती है। १९१८ में नहर पूर्ण रूप से काम लायक़ हो गई। तब से प्रति वर्ष लगभग ७५०० जहाज़ इस नहर से होकर गुज़रते हैं। ५६ लाख पौण्ड महसूल प्रति वर्ष इन जहाज़ों से वसूल किया जाता है। इस नहर के निर्माण में कुल ७ करोड़ ५० लाख पौण्ड ख़र्च करने पड़े थे।
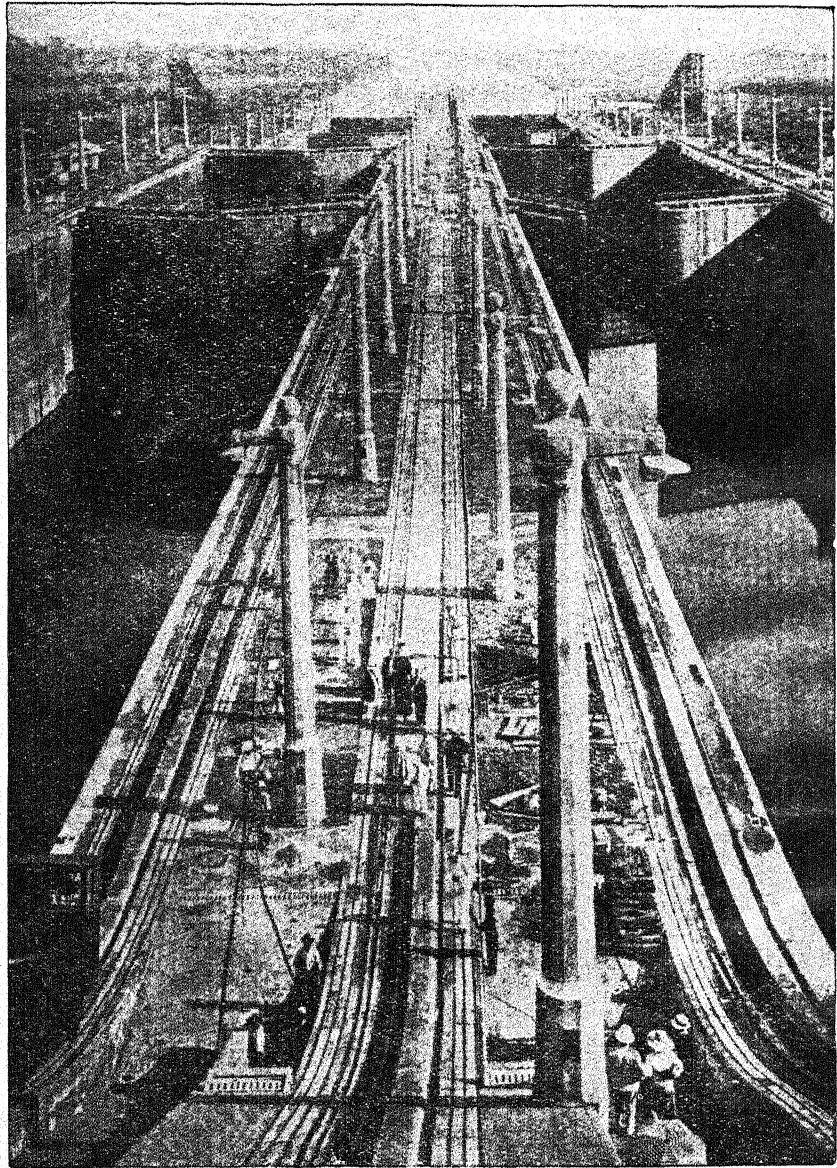
गातुन लॉक का विहंगम दृश्य—यहाँ जहाज़ गातुन झील की सतह पर उठा दिए जाते हैं। अगल-बग़ल जलमार्ग हैं, बीच के बाँध पर रेल की पटरियों पर वे इंजिन दौड़ते हैं जो जहाज़ों को खींचकर लॉक के इस पार से उस पार ले जाते हैं।
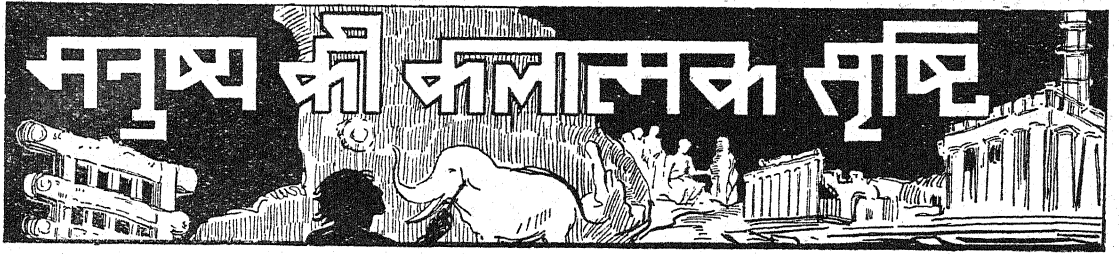
चीनी चित्रकला

प्रायः यह कहा जाता है कि चीनी चित्रकला मूलतः सुलेखन-कला-विशिष्ट (Calligraphic) है। इस कथन का उद्देश्य क्या है, और सुलेखन-कला (Calligraphy) क्या वस्तु है? सुलेखन-कला का अर्थ है 'सुंदर लिखावट या लिपि में आलेखन।' मानव सभ्यता के इतिहास के आरंभिक युग ही में विविध मानवीय कृतियों में सौंदर्य-तत्त्व का भाव प्रविष्ट हो चुका था और यह आम तौर पर माना जाने लगा था कि वर्णमाला के अक्षर भी कतिपय विशिष्ट आकार-प्रकार और लेखन-विधि के अनुसार ही अंकित होने चाहिएँ। इनका इस प्रकार निदर्शन करना स्वतः सुंदरता का एक नमूना माना जाता था। लगभग सभी देशों में सुंदर लिखावट के संबंध में विशद नियम बनाए नए और अच्छी लिखावट लिखना भद्रता अथवा सुशिक्षा का एक आवश्यक अंग और लक्षण माना जाने लगा। ग्रीक और रोमन तथा उनसे भी पहले के मिस्रियों या असीरियावालों के सुंदर अभिलेख प्रख्यात हैं, जो चित्राक्षर, कीलाक्षर, अथवा वर्णाक्षरों में अभिलिखित मिलते हैं। सुंदर लिखावट संबंधी यह अभिरुचि प्राचीन काल ही तक सीमित न रही, बल्कि मध्ययुग से होकर वह आधुनिक काल तक आ पहुँची। ईरान या फ़ारस में उत्तम लिपिकार प्रथम श्रेणी का कलाकार माना जाता था और उसके 'ख़ुशख़त' के नमूने कलात्मक चित्रों जैसे ही मूल्यवान् समझे जाते थे। क्रमशः सुलेखन-संबंधी अनेक सूक्ष्म भावयुक्त शैलियों का भी वहाँ विकास हुआ, जिनकी ख़ूबियों की परख, प्रशंसा, अथवा मोल आँकने का काम केवल मार्मिक विशेषज्ञ ही कर सकते थे। सुप्रसिद्ध इतिहासकार अबुल फ़ज़्ल ने निम्न विविध सुलेखन-शैलियों के नाम गिनाए हैं—१. सुल्स, २. नश्ख़, ३. तौक़ी, ४. रिक़ा, ५. मुहक़्क़क़, ६. रैहान, ७. तालीक़, ८. नस्तालीक़। इनमें अंतिम अर्थात् नस्तालीक़ को अकबर और जहाँगीर द्वारा बहुत अधिक मान दिया गया था। सुंदर लिखावट लिखनेवाले लिपिकारों को इन बादशाहों द्वारा बड़ी सम्मान-पूर्ण उपाधियाँ दी जाती थीं, जैसे "ज़र्रीन - क़लम", "अंबरीन - क़लम" "मुश्कीन-क़लम" इत्यादि! कभी-कभी इन लोगों की कलाकृतियों पर शाही मोहर की छाप भी लगा दी जाती थी, जिससे और भी अधिक सम्मान की सूचना मिलती है। आईने-अकबरी में सुलेखन-कला के क्षेत्र में चमकनेवाले उस युग के सुप्रसिद्ध लिपिकारों के नाम उत्कृष्ट चित्रकारों के ही समकक्ष रक्खे गए हैं, जिससे इस बात का प्रचुर आभास मिल जाता है कि मुग़लकाल में सुलेखन-कला को कितना अधिक सम्मान दिया जाता था।

फ़ारसवालों को सुलेखन-कला सम्बन्धी यह अभिरुचि चीनवालों से उपहार के रूप में प्राप्त हुई। यद्यपि यह सच है कि सुलेखन-कला के विकास में 'नेस्टोरियन ईसाइयत' और 'मेनीकेनिज़्म' नामक मत का भी कुछ हाथ रहा, किंतु प्रमुख रूप से यह चीन की ही देन थी, जिसकी धारा हुलागू, तैमूर, शाहरुख़, आदि विजेताओं के मंगोल जत्थों के साथ चीन से फ़ारस में प्रवाहित हुई थी।

चीन में सुन्दर लिखावट के लिए जो साधन काम में लाया जाता है वह तूलिका है न कि क़लम। क़लम संभवतः रोमन 'स्टाइलस' या शलाका का ही एक परिष्कृत रूप है, जिसका प्रवेश फ़ारस में नेस्टोरियन ईसाइयत के साथ हुआ था। क़लम का प्रयोग चाहे जितनी दक्षता के साथ किया जाय, उसके द्वारा तूलिका-जैसा प्रवाह और सरल प्रयास का भाव नहीं लाया जा सकता। फलस्वरूप क़लम द्वारा आलिखित कोई भी कृति हर हालत में एक प्रकार की नक़ाशी जैसी ही रहेगी। हमें यहाँ यह स्मरण रखना चाहिए कि रोमन लिखावट यथार्थ में नक्काशीनुमा ही थी और उसके लिखने में जिस शलाका या 'स्टाइलस' नामक यंत्र का प्रयोग किया जाता था वह मोम की तख्ती की

मुलायम सतह पर अक्षर कुरेदने का एक औज़ार मात्र था। इसके विपरीत तूलिका द्वारा आलेखन स्वभावतया लेखनी से अधिक सरल प्रवाहयुक्त होता है, अतएव नक़्क़ाशी के बजाय चित्रकारी से वह अधिक समानता रखता है।

यही कारण है कि चीन में हम सुलेखन-कला को चित्र-कला ही की एक शाखा के रूप में देखते हैं। अथवा दूसरे शब्दों में कहिए तो स्वयं चित्रकला को हम वहाँ सुलेखन-कला ही के एक गौरवपूर्ण भव्य विकसित रूप में प्रतिष्ठित पाते हैं। जीवनभर तूलिका की ही अनवरत साधना के फलस्वरूप चीनी चित्रकार उसे साधने में जो क्षमता प्राप्त कर लेता है उसकी बराबरी कोई भी योरपीय या चीन से बाहर का कलाकार नहीं कर सकता। वर्ण संबंधी गहराई या फीकाई के उतार-चढ़ाव एवं द्योतन-शक्ति (power of suggestion) से युक्त तूलिका-साधन में चीनी कलाकार की इस असाधारण क्षमता ने उस अद्-भुत वस्तु 'चीनी स्याही' (Chinese Ink) की सहायता से उसे अपने क्षेत्र में बेजोड़ बना दिया है। चीनी चित्र-कला में सुन्दर लिखावट और चित्रकारी प्रायः एक संमि-लित रूप में दिखाई पड़ते हैं और अधिकांशतः एक उत्कृष्ट चीनी चित्रकार अनिवार्यतः एक उत्कृष्ट कवि भी पाया जाता है। लारेन्स बिनयन के शब्दों में "चीनी चित्रकला वहाँ के साहित्य-संसार में प्रचलित रूढ़ियों की भावनाओं से ओत-प्रोत है। कतिपय पुष्प और पक्षी सदैव साथ-साथ ही चित्रित किए जायँगे, चूँकि किसी विशेष कविता में उन दोनों का एक ही साथ वर्णन हुआ है। अनेक चीनी चित्रकार कवि भी थे और वाङ् वी जैसे कुछ व्यक्ति तो दोनों ही क्षेत्रों में लब्ध-प्रतिष्ठित थे। किंतु कला के क्षेत्र में वहाँ जो प्रवृत्ति पाई जाती है वह प्रायः किसी कविता या कहानी के कथानक के एकदम ज्यों-के-त्यों चित्रण की नहीं, बल्कि उक्त कविता या कहानी के भाव के ही अनुरूप अपने में भी एक भाव जगाने की रही है।"

चीनी चित्रों के किसी भी संग्रह पर केवल एक सरसरी निगाह भर दौड़ानेवाले सामान्य दर्शक को भी यह पता लगे बिना नहीं रह सकता कि इनमें से अधिकतर का विषय प्राकृतिक दृश्यों का दिग्दर्शन अथवा अन्य नैसर्गिक अध्ययन ही है। उदाहरणार्थ, उनमें फूल, पौधे, हरियाली, कीड़े, पक्षी, जानवर आदि के ही चित्रण की प्रचुरता मिलेगी। इन चित्रों में मानव का स्थान गौण या नगण्य-सा हो गया है—जहाँ-कहीं भी मानवाकृतियाँ चित्रित की गई हैं वहाँ गौण रूप ही में। इसके विपरीत योरप की कलाओं में मानवाकृति प्रधान है, अन्य वस्तुएँ गौण। मानव ही उनका प्रधान नायक है। वहाँ हर कहीं हम विश्व की अन्य सभी वस्तुओं की तुलना में मनुष्य की ही सर्वोपरि महत्ता का भव्य रूप चित्रित करने का प्रयत्न देखते हैं। यदि हमें चीन की कला में मानव के इस प्रकार अपेक्षतया बिलकुल ही नगण्य स्थान दिए जाने का कारण ढूँढ़ना है तो हमें उस महादेश के सामाजिक ढाँचे की तह में गहरे उतरकर देखना होगा! चीन की जनता मूलतः कृषि-व्यवसायी है और इस कारण वहाँ के लोग प्रकृति की शक्तियों, जैसे आकाश, नक्षत्र, वायु, वर्षा, ऋतुचक्र आदि, में गहरी दिलचस्पी रखते हैं। मानव-मस्तिष्क पर स्वभावतया उन्हीं वस्तुओं का सबसे अधिक गहरा प्रभाव पड़ता है जिनके संसर्ग में वह सबसे अधिक आता है। चीनी कला में पर्वतों, नदियों, वृक्षों, पुष्पों, पक्षियों एवं पशुओं की प्रधानता का यही कारण है कि अत्यन्त प्राचीन काल से आज तक प्राकृतिक दृश्यों का चीनी मस्तिष्क पर वैसा ही गहरा प्रभाव पड़ता रहा है जैसा योरपीय कलाकारों के मन पर मानव-आकृति का। यही नहीं, चीनवालों की चित्रण-शैली का रूप भी आज लगभग वही है तथा सौन्दर्य के उन्हीं सिद्धान्तों से प्रेरित है जिनका कि विधान वहाँ के आरंभिक कलाकारों ने दो हज़ार वर्ष पूर्व किया था!

चीनवालों की यह कट्टर रूढ़िवादिता या परंपरावाद कतिपय विशिष्ट कारणों से है और यह असंगत न होगा यदि हम इन कारणों पर भी एक नज़र दौड़ा लें। चीनवालों की जीवनधारा में जिस बात की ओर हमारा ध्यान सबसे पहले आकर्षित होता है वह उनका सामाजिक ढाँचा है, जिसकी इकाई परिवार है न कि व्यक्ति। वहाँ पूर्वजों के रीति-रिवाज़ ने ही सबके लिए मान्य विधान का रूप ग्रहण कर लिया और कुटुम्ब की सत्ता बनाए रखना ही सबसे बड़ी आवश्यकता समझी जाने लगी। इस कौटुम्बिक बलिवेदी पर व्यक्तिगत स्वतन्त्रता और अधिकारों की आहुति चढ़ा दी गई। इस प्रकार वहाँ व्यक्ति सामाजिक शृंखला की एक कड़ी मात्र बन गया तथा इस अटूट शृंखला की ही सत्ता सर्वप्रधान हो गई। इस प्रकार की परिस्थिति ने एक और महत्त्वपूर्ण प्रवृत्ति को जन्म दिया। यह थी दिवंगत पूर्वजों के प्रति अगाध धर्मभावयुक्त श्रद्धा बनाए रखने, भविष्य के बजाय भूतकाल की ओर ही निरंतर पलटकर देखते रहने, और अतीत को ही अन्तिम सत्ता स्वीकार करने की प्रबल रूढ़िवादी प्रवृत्ति। इस प्रकार की संस्कृति के परिणामस्वरूप स्वभावतः ही वहाँ के जीवन में एकरूपता और सामञ्जस्य

का एक भाव आ गया, और फलस्वरूप वहाँ की कला में भी व्यक्ति की अपेक्षा जाति की ही प्रमुख रूप से छाप अंकित हो गई।

इस विषय में यदि कुछ और गहरे उतरना हो तो आवश्यक है कि हम चीन में कनफ़्यूशियस और लाओत्ज़े (जो दोनों समकालीन थे और छठी शताब्दी ई० पू० में हुए थे) द्वारा प्रवर्तित उन दो विभिन्न जीवन संबंधी विचार-धाराओं की भी कुछ जानकारी पा लें जिनका कि चीनी जीवन के सभी अंगों पर बहुत ही गहरा प्रभाव पड़ा है। कनफ़्यूशियस के मत को प्रायः एक धर्म कहकर अभिहित किया जाता है, किंतु वह न तो एक धर्म ही है न दार्शनिक विचार-धारा ही। वस्तुतः वह एक नैतिक आदर्शयुक्त सामाजिक व्यवस्था है जिसका लक्ष्य है मनुष्यों के पारस्परिक सम्बन्ध द्वारा समाज की स्थिति स्थिर बनाये रखना। उसका आदर्श एक प्रकार का ऐसा कम्यूनिज़्म या समाजवाद है जो कि एक कृषिजीवी जाति के लिए उपयुक्त हो। इस व्यवस्था में नित्यप्रति के जीवन में उचित व्यवहार सम्बन्धी बातें इस प्रकार विधान और रीति-रिवाज़ द्वारा नियन्त्रित की गई हैं कि उसके परिणामस्वरूप एक ऐसे शान्तिपूर्ण सुसंगत समाज का जन्म होना, जिसमें व्यक्ति के लिए कोई स्थान नहीं होता, अनिवार्य है। और तो और, इस प्रकार की व्यवस्था में यहाँ तक की बातों की निश्चित योजना पाई जाती है कि किसे किस प्रकार की टोपी पहिनना चाहिए और शयन का सबसे भद्र तरीक़ा कौन-सा है!

ताओ मत अर्थात् लाओत्ज़े द्वारा प्रतिपादित व्यवस्था में इसके विपरीत जीवन के सम्बन्ध में एक बिलकुल ही विभिन्न दृष्टिकोण हमें मिलता है। इस मत का जन्म 'याङ् सिक्याङ्' अर्थात् 'नीली नदी' की उपत्यका के निवासी जंगली लोगों में हुआ था, जो 'ताओ' या प्रकृति के अंतराल में व्याप्त नैर्व्यक्तिक शक्ति के उपासक थे। नीली नदी के इन निवासियों के मन में प्रकृति के प्रति, अर्थात् चीन के उस भाग में बहुत अधिकता से पाए जानेवाले पर्वतों, नदियों, कुहासों और बादलों के प्रति, गहन अनुराग का भाव जमा हुआ था। वे लाओत्ज़े को, जो कि कनफ़्यूशियस का ही समकालीन था, अपने धर्म का आदि संस्थापक मानते थे। लाओत्ज़े व्यक्ति को कहीं अधिक महत्त्व देता था, क्योंकि विश्व में व्याप्त महान् निराकार नैर्व्यक्तिक शक्ति की धारणा के समर्थन के लिए आत्मा के व्यक्तिगत स्वरूप की महत्ता को स्वीकार करना आवश्यक था। इस प्रकार चीनी कला की दो प्रमुख धाराओं अर्थात् रूढ़िवादिता और प्रकृति-पूजा का उद्गम हम चीन के इतिहास के प्रारम्भिक काल में कनफ़्यूशियस और लाओत्ज़े की शिक्षाओं में पाते हैं। किन्तु निरे दार्शनिक या धार्मिक विचारों का मज़बूती के साथ जन-मस्तिष्क पर गहरी छाप जमना संभव नहीं होता, जब तक कि उसे राज्य की शक्ति और समर्थन का बल भी प्राप्त न हो। चीनी राष्ट्र का सर्वप्रथम वास्तविक संगठन 'त्सीन' नामक तातार जाति के लोगों द्वारा हुआ जो कि 'चाओ' राजवंश* के राजाओं के अश्वपालों और सारथी का कार्य करते और साम्राज्य के सीमान्त पर रहते थे। इन लोगों ने एक शक्तिशाली केन्द्रीय-राजसत्ता की स्थापना की और मंगोल घुमक्कड़ों के आक्रमण से देश की रक्षा करने के लिए चीन की सुप्रसिद्ध 'बड़ी दीवाल' का भी निर्माण किया। इन्हीं लोगों के नाम पर इस देश का नाम 'त्सीन' या 'चीन' पड़ा, जिससे कि आज हम उसे पुकारते हैं। त्सीन लोगों को हान लोगों ने परास्त कर दिया। हान लोग कनफ़्यूशियस के आदर्शों के महान् पृष्ठपोषक थे। अतएव इन्होंने उन ग्रंथों को, जिनमें कनफ़्यूशियस के विचारों का प्रतिपादन किया गया था, चीन के अन्यतम प्राचीन साहित्य के रूप में प्रतिष्ठित कर दिया। हान राजवंश के युग में साम्राज्य का विस्तार पश्चिम की ओर हुआ। इसके दो उद्देश्य थे, प्रथम तो मध्य-एशिया की जंगली जातियों से चीन की रक्षा; दूसरे साम्राज्य के उन महान् व्यापारिक मार्गों को खुला रखना, जिनके द्वारा चीन का रेशम तथा अन्य माल

*** चीन की सभ्यता के इतिहास की डोर ३०० ईस्वी पूर्व पीछे तक जाती है। चीनी इतिहास के प्रमुख महत्त्वपूर्ण युग निम्न प्रकार हैं—**

१. ह्सिया राजवंश		**२२०५-१७६६ ई० पूर्व**
२. शाङ्	,,	**१७६६-११२२ ,,**
३. चाओ	,,	**११२२-२५५ ,,**
४. त्सीन	,,	**२५५-२०६ ,,**
५. हान	,,	**२०६ ई० पूर्व से २२१ ई०**
६. वाई और अन्य छः वंश		**२२१-६१८ ई०**
७. टैङ् राजवंश		**६१८-६०७ ,,**
८. सुङ्	,,	**६६०-१२८० ,,**
९ युआन या मंगोल	,,	**१२८०-१३६८ ,,**
१० मिङ्	,,	**१३६८-१६४४ ,,**
११ चिङ् या मंचु	,,	**१६४४-१९११ ,,**

सुदूर पश्चिम में रोम-साम्राज्य तक जाता था। उस प्राचीन युग में ही चीन के रेशमी वस्त्र इतने प्रसिद्ध थे कि रोमन लोग चीन को 'सरीकाना' अर्थात् रेशम के देश के ही नाम से पुकारते थे।

चीनी सभ्यता के इतिहास में इन विशद् राजमार्गों का बड़ा महत्व रहा है। इन्हीं मार्गों से होकर व्यापारियों, धर्म-यात्रियों और विशाल सेनाओं के झुंड पूर्वी और पश्चिमी एशिया के बीच आते-जाते रहते थे। जब कि ख़ास चीन में वहाँ की स्थानीय संस्कृति ही पनपकर क्रमशः सर्वमान्य रूढ़ियों का रूप लेती जा रही थी, उन्हीं दिनों इन विशद राजमार्गों पर क्रमशः बौद्धधर्म का प्रभाव बढ़ने लगा था। भारत से आए हुए बौद्ध भिक्षुओं और धर्मप्रचारकों का पूर्व की ओर अधिकाधिक विस्तार होता चला जा रहा था, विशेषकर पूर्वी तुर्किस्तान में, जो कि चीनी साम्राज्य का ही एक आश्रित राज्य था। इसी प्रदेश के विस्तृत मरुभूमि से युक्त पठारों के बीच में यहाँ-वहाँ बिखरे हुए कुछ इने-गिने नगरों में भारतीय धर्म और चीनी संस्कृति का महत्वपूर्ण समागम हुआ और इन दोनों के संयोग से ही उस विशद भित्ति की स्थापना हुई, जिस पर चीन की भावी महान् कला की इमारत खड़ी हुई।

इस कालावधि में शाक्य मुनि द्वारा निरूपित मूल बौद्ध-धर्म में विशद परिवर्तन हो चुके थे। हिमालय के उस पार से अब जो धर्म आया, वह कठोर 'हीनयान' मत नहीं रह गया था प्रत्युत् उसका स्वरूप अधिक लोकग्राह्य बन चुका था, जिसमें कि बोधि-सत्वों और उनकी 'शक्तियों' की कल्पना की भरमार हो चली थी। इन बोधि-सत्वों में प्रधान थे 'अवलोकितेश्वर' अर्थात् सर्वद्रष्टा देव। बौद्ध देवमंडली का यह सर्वोपरि देवाधिपति क्रमशः "क्वान्नन" या 'क्वान्निन'—करुणा के देव—के नाम से चीनी और जापानी देवालयों का सर्वप्रधान देव बन गया। भारतीय विचारों के चीन की विशिष्ट अभिव्यक्ति-प्रणाली में रूपान्तरित होने की इस प्रक्रिया का विकास हम चीनी तुर्किस्तान में होते देखते हैं। यहाँ संभव नहीं कि हम सर ऑरेल स्टाइन, प्रोफ़ेसर फ़ॉन लेक्रॉक, पॉलपेलिओ, आदि की खोज द्वारा उपलब्ध महान् पुरातत्त्व संबंधी ज्ञान-राशि का विवरण दे सकें। जिन्हें इस संबंध में जिज्ञासा हो वे ऑरेल स्टाइन कृत 'सरिन्डिया', 'प्राचीन खोतन', 'सहस्र बुद्धों की गुफा', अथवा फ़ान लेक्रॉक कृत 'चीनी तुर्किस्तान के गड़े हुए ख़जाने' आदि ग्रन्थों के पृष्ठों को उलट सकते हैं, जिनमें अब तक प्राप्त अत्यधिक मूल्यवान सामग्री की एक झलक मिल सकती है। आम जनता को शायद यह पता नहीं है कि नई दिल्ली में भारत-सरकार की ओर से मध्य एशियाई पुरातत्त्वावशेषों का एक संग्रहालय या अजायबघर खुल चुका है, जहाँ भारतीय-चीनी-कला के समाहार के इस विशिष्ट पहलू का सफल अध्ययन किया जा सकता है। इस युग के सुन्दरतम भित्ति-चित्र, जिनकी खोज प्रो० एलबर्ट फ़ॉन लेक्रॉक ने 'काईज़ाइल' और 'बेज़ेक्लिक' से की थी, आजकल बर्लिन के मानव-वैज्ञानिक संग्रहालय में सुरक्षित हैं।

यह एक दुःख की बात है कि ख़ास चीन में इस सांस्कृतिक समाहार की प्रक्रिया का पूरी तरह आत्मीकरण और प्रकाशन टैङ् राजवंश के काल में हुआ। यह युग था तो चीन की समस्त कलाओं—चित्रकारी, भास्कर्य, धातुकारी, काव्य और संगीत—का स्वर्णयुग, किन्तु इस युग के अन्तिम दिनों में बौद्धमत के विरुद्ध चीन में प्राचीन रूढ़िवादिता की प्रतिक्रिया की एक लहर उठ खड़ी हुई थी, जिसने क्रमशः एक विद्रोह का रूप धारण कर लिया। इस विद्रोह ने उस राजवंश को उखाड़ फेंका और फल-स्वरूप कनफ़्यूशियस द्वारा प्रतिपादित व्यवस्था की फिर से स्थापना हो गई। विद्रोहियों ने नवीन मत (अर्थात् बौद्ध विचारों) का अनुसरण करनेवाले हर व्यक्ति को तलवार के घाट उतारना शुरू किया और इस सिलसिले में अनेक सुन्दर भित्ति-चित्रों से सुसज्जित मठों और देवालयों के विध्वंस द्वारा कला संबंधी तमाम अमूल्य कृतियों को एक तरफ़ से नष्ट कर दिया। यह सच है कि दसवीं शताब्दी में चीन में फिर बौद्धमत के पुनरुज्जीवन की एक लहर उठी, किन्तु उस समय तक अधिकांश चित्र और भित्ति-चित्र ऐसे नष्ट हो चुके थे कि उनका उद्धार संभव न था। टैङ् युग के भित्ति-चित्रों के अवशेषों में सबसे प्रसिद्ध वसंतोत्सव के विख्यात चित्र के वे जीर्ण-शीर्ण अंश हैं, जो ऑरेल स्टाइन को १९१४ में तुरफ़ॉन में मिले थे। ये सचमुच ही प्रशंसा के योग्य हैं। ये इसी युग की कुछ और तस्वीरों से, जो कि अब जापानी संग्रहालयों में सुर-क्षित हैं, बहुत-कुछ मिलते-जुलते हैं और उन्हीं जैसी शैली तथा कलात्मक प्रेरणाओं की अभिव्यक्ति का प्रदर्शन करते हैं। इस प्रकार के अधिकांश चित्र बौद्ध विषयों के ही हैं—वस्तुतः टैङ् युग की भव्यतम रचनाएँ बौद्ध प्रेर-णाओं-की ही उपज थीं। इन चित्रों में सर्वश्रेष्ठ वू ताओत्सू की रचनाएँ हैं, जो सबसे महान् चीनी चित्रकार माना जाता है। कहते हैं कि इस महान् कलाकार ने तीन सौ

से भी अधिक भित्ति-चित्र रचे थे, किंतु दुर्भाग्यवश आज उनमें से एक भी उसकी अद्वितीय प्रतिभा की झलक दिखाने के लिए शेष नहीं है। टैङ् काल के बौद्ध चित्रों में से कुछ, जिन पर कि प्रान्तीयता की छाप है, पॉल पेलिओ और सर ऑरेल स्टाइन द्वाराचीन के पश्चिमी सीमा-प्रदेश पर टून-हुवाङ् नामक स्थान में खोजे गए हैं और उनमें से कुछ नई दिल्ली के मध्य एशियाई पुरातत्व-संबंधी संग्रहालय में देखे जा सकते हैं। इनमें से कई पर नवीं और दसवीं सदी ई० की तिथि अंकित हैं।

टून-हुवाङ्ग से प्राप्त चित्र अधिकांशतः अमिताभ बुद्ध, जो कि पश्चिमी 'स्वर्गभूमि' के अधिष्ठाता माने जाते थे, तथा उनके मानस पुत्र अवलोकितेश्वर 'अथवा करुणा के देव' से संबंधित हैं, जो कि बाद में स्त्री आकृति में चित्रित किए गए हैं। इस 'स्वर्ग' संबंधी अनेक चित्र मिलते हैं, जिनमें प्रायः एक बुद्ध (अधिकतर अमिताभ, किन्तु सदैव नहीं) की अधीनता में अनेक दिव्य आत्माओं की मंडली एक पुनीत नृत्योत्सव के चारों ओर एकत्रित चित्रित की गई पाई जाती है। असंख्य मानवाकृतियों से युक्त इन जटिल चित्राङ्कनों में से कुछ रचना-संबंधी एक अद्भुत शांतिसूचक सुसंगति और वर्ण-वैचित्र्य के सौंदर्य से अभिभूत हैं। उनमें चित्रित आकृतियों की व्यवस्था में किसी प्रकार की गड़बड़ी या भौंडापन नहीं पाया जाता। अन्य धर्मार्थ उत्सर्ग किए गए चित्रों में महान् बोधिसत्वों, विशेषतया क्वान्नन (करुणादेव), अथवा बौद्ध गाथाओं के दृश्यों का चित्रण है। बोधिसत्वों के चित्रों में आकृतियाँ, वेशभूषा, चेहरे, आभूषण आदि उनकी मूल भारतीय मूर्त्तियों के ही अनुसार हूबहू बनाए गए हैं। दूसरे प्रकार के अर्थात् बौद्ध गाथाओं के चित्रों में वेशभूषा और इमारतें आदि विशुद्ध चीनी ढंग की ही हैं। प्रायः इन विशाल चित्रों के अगल-बगल अंकित छोटे-छोटे दृश्यों से उस युग के सांसारिक (धर्म से इतर) विषयों के चित्रण की शैली की भी एक झलक हमें मिल जाती है—इन्हीं में चित्रित दाताओं या दापकों के चित्रों से हमें उस युग की वेश-भूषा का भी अनुमान हो जाता है। यद्यपि यह कृतियाँ अधिकांशतः कलाकारों के बजाय साधारण कारीगरों की ही रचनाएँ हैं, फिर भी ऐतिहासिक आलेख के रूप में उनका मूल्य किसी क़दर कम नहीं है और उनमें से कुछ तो निस्संदेह वास्तविक सौन्दर्य से युक्त हैं।

टैङ् युग की एक और लाक्षणिक विशेषता यह है कि इस युग में प्राकृतिक दृश्यों का चित्रण यहाँ-वहाँ की भरती अथवा पृष्ठभूमि तक ही सीमित न रहा, बल्कि स्वतन्त्र रूप से स्वतः उसकी अलग से भी साधना की जाने लगी। प्राकृतिक दृश्यों के चित्रों के लिए चीन में 'शान्-सुई' शब्द का प्रयोग होता है जिसका अर्थ है, 'पर्वत और जल' और इस प्रकार के चित्रों के लिए निरंतर बहनेवाली जलधाराओं तथा भव्य पर्वतमालाओं का दृश्य ही चीनी लोगों का सबसे प्रिय विषय पाया जाता है। इस प्रकार का जो चित्रण उनके चित्रों में पाया जाता है उसमें एक विशेष प्रकार की सूक्ष्मता तथा आध्यात्मिकता का भाव निहित रहता है, जिसके द्वारा दिन और रात्रि के चौबीसों पहर तथा भिन्न-भिन्न ऋतुओं में उन पर्वतों के भिन्न-भिन्न सूक्ष्म भावों और चित्तवृत्तियों का अभिलेखन किया रहता है। इनमें कभी भी एक दृश्य विशेष का प्रत्यांकन नहीं पाया जाता, प्रत्युत् अनेक यहाँ-वहाँ उड़ते फिरते हुए भावों और चित्तवृत्तियों के सम्मिलन का प्रयास दिखाई देता है जिनसे एक दृश्य विशेष की सृष्टि हो जाती हैं। ली श्शू-शुन (जन्म ६५१ ई०) पहला विख्यात चित्रकार था, जिसने विशुद्ध प्राकृतिक दृश्यों के चित्रण को ही अपना एकमात्र कार्यक्षेत्र बना लिया। उसके पुत्र ने उसकी आलेखन-विधि को जारी रक्खा तथा उसका विकास किया, और अंत में वाङ् वी नामक कवि-चित्रकार के हाथों में पहुँचकर तो प्राकृतिक दृश्य-चित्रण की यह कला एकबारगी ही खिल उठी। वाङ् वी ने एक प्रकार की इकरंगी रोशनाई द्वारा चित्रण करने की विधि का विकास किया, जिसमें प्राकृतिक दृश्य एक ऐसे भाव का गौण अंगमात्र बन गया जोकि श्शू-शुन और उसके संप्रदाय की कृतियों से कहीं अधिक आत्मसूचक था। वाङ् वी के सुप्रसिद्ध चित्रपट 'वाङ् चुआन् की दृश्यमाला' की प्रतिलिपियाँ अब भी विद्यमान हैं। उस महान् कलाकार द्वारा स्वतः रेशमी पट पर आलिखित मूल चित्र जब जीर्णशीर्ण हो चला तब उसे चिरस्थायी बनाने के उद्देश से उसकी पत्थर पर खोदकर एक प्रतिलिपि उतार ली गई। उसे डा० बर्थवल्ड लॉउफर ने खोज निकाला है और 'इस्टेशियाटिक साइत्श्रिफ्ट' नामक प्रकाशन में उसकी प्रतिलिपि प्रकाशित हुई है।

जानवरों के चित्रण की कला भी टैङ् युग में अपनी चरम सीमा पर जा पहुँची। इस युग की क़ब्रों या समाधियों में पाई गई घोड़ों और ऊँटों की सुंदर आकारवाली अद्भुत मृण्मय मूर्त्तियाँ एक आश्चर्यजनक वेग और

व्यापक दृष्टिकोण की सूचना देती हैं। ये ग्रीक या मिस्री क़ब्रों में पाई गई जानवरों की मूर्त्तियों से कहीं बढ़-चढ़कर हैं। इन रँगी हुई मिट्टी की मूर्त्तियों के सौंदर्य को देखकर हम अनुमान लगा सकते हैं कि इस युग का जानवरों का चित्रण अत्यधिक उत्कृष्ट रहा होगा। त्साओ पा और उसका शिष्य हान-कान, जो अपने गुरु से भी बढ़ा-चढ़ा था, इस युग के सबसे प्रख्यात घोड़ों के चित्रकार थे और हान हुआङ् भैंसों तथा ग्राम्य दृश्यों के चित्रण में सबको मात करता था।

इसके अतिरिक्त इस युग में राज-दरबार तथा अन्य सांसारिक विषयों के भी भव्य चित्र बनाए गए, जिनमें चाउ फैङ्कृत "संगीत के श्रोता" नामक चित्र उल्लेखनीय है।

टैङ् और सुङ् युग के बीच के युगान्तर काल में चित्रकारी का दृष्टिबिंदु जानवरों और प्राकृतिक दृश्यों से हटकर पुष्पों और वनिताओं पर केन्द्रित हो गया। इस संधि-युग का सबसे प्रख्यात चित्रकार हुआन चुआन था, जिसने प्राकृतिक दृश्य, पक्षी और पुष्प आदि का चित्रण किया है और जिसे चित्रकला में तथाकथित "अस्थिरहित विधि" (Boneless Method) अर्थात् कोई रूपरेखा खींचे बिना ही चित्र बनाने की विधि का आविष्कार करने का श्रेय दिया जाता है।

चीनी कला के द्वितीय स्वर्ण-युग का उदय सुङ् काल (९६०-१२८० ई०) के आरंभ के साथ हुआ, जिसकी कलात्मक प्रतिभा के प्रस्फुटन की तुलना योरप में पुनरुज्जीवन काल की कला-संबंधी प्रगति से की जा सकती है। योरपीय पुनरुज्जीवन काल की भाँति सुङ् युग ने भी अपना आदर्श अतीत में पाया। इस युग के दर्शन, काव्य और चित्रकला ने मिलकर चीनी प्राकृतिक दृश्य-चित्रण के क्षेत्र में सर्वोत्कृष्ट कृतियाँ निर्मित कीं। सुङ् राजवंश के सम्राटों की अधीनता में सारा चीन एक बार पुनः एकता के सूत्र में बँध गया। सम्राट् हिन सुङ् स्वयं एक चित्रकार और शौक़ीन संग्रहकर्त्ता था। उसके राज्यकाल में पेकिङ्ग की 'चित्रकला परिषद्' ख्याति के शिखर पर चढ़ गई और चीन के सभी भागों से प्रतिभावान् कलाकार उसकी ओर आकृष्ट होने लगे। राजकीय संरक्षण पाकर चित्रकला में कहीं अधिक यथार्थवादिता के प्रति अग्रसर होने की एक लहर उठने लगी, यद्यपि शैली में कठोर सादगी का ही ध्येय बना रहा। अब पुष्पों का चित्रण चित्रकारों का एक अति प्रिय विषय बन गया, क्योंकि स्वयं सम्राट् ही एक प्रतिभावान् पुष्प-चित्रकार था। इसके अतिरिक्त अन्य बहुतेरे कलाकार रोशनाई द्वारा बाँस के पौधे के चित्रण का अभ्यास करते रहे और इसमें उन्होंने पूरी दक्षता प्राप्त की। अनेक नई चित्रण-शैलियों का आविष्कार हुआ, उदाहरणार्थ मी फेई की रूपरेखा-रहित प्राकृतिक दृश्य-चित्रण की विधि, जिसमें सघन वर्षा अथवा कुहरे में से निकलते हुए वनाच्छादित शैल-शिखर प्रायः तूलिका द्वारा मोटे तौर पर चित्रित रहते थे। शाओ ता-निएँ ने शरद् या पतझड़ और हेमन्त काल के दृश्यों के चित्र बनाए और फान क्वान अपने तुषार-मंडित हिम-शिखरों के आलेखन के लिए प्रख्यात हुआ।

सुङ् युग की कला के क्षेत्र में सबसे प्रसिद्ध नाम ली-लुङ्-मिएँ का है, जिसको प्राचीन परम्परा के प्रति प्रबल अनुराग था। आरंभ में वह प्राचीन महान् कलाकारों की कृतियों की प्रतिलिपियाँ तैयार करने का काम करता रहा, तदुपरान्त एक अश्व-चित्रकार बन गया, और अंत में सभी विषयों को छोड़कर केवल बौद्ध विषयों के ही चित्रण में जुट गया। उसके चित्रों की एक सबसे प्रमुख विशेषता यह है कि वह रंगों का प्रयोग शायद ही कभी करता था—केवल अति सूक्ष्म भावपूर्ण रेखाओं द्वारा ही चित्रांकन किया करता था। उसकी कृतियों की प्रतिलिपियाँ प्रचुर मात्रा में मिलती हैं और चीनवालों द्वारा उसको चीनी संस्कृति के सर्वांगसंपूर्ण आदर्श के रूप में सम्मान प्रदान किया जाता है।

११२७ ई० में चंगीज़ ख़ाँ के नेतृत्व में तातार लोग 'स्वर्ग के पुत्र' (चीनी सम्राट्) के विरुद्ध उठ खड़े हुए और उन्होंने सारे उत्तरी चीन पर अधिकार कर लिया। सम्राट् हुई सुङ् पकड़ लिया गया और उसके जीवन का अंत निर्वासन में हुआ। राजदरबार तितर-बितर हो गया और तथाकथित 'दक्षिणी सुङों' की हैंगचो में नवीन राजधानी प्रस्थापित हुई। इस युग के वातावरण में इस प्रकार जो परिवर्त्तन प्रस्तुत हुआ, उसका स्पष्ट प्रतिबिंब हमें तत्कालीन कला में भी दिखाई पड़ता है। अब जनता की बाह्य परिस्थिति में अधिक दिलचस्पी नहीं रही, क्योंकि उसे पलटने में वे असमर्थ थे। इसके बदले कोलाहलमय जीवन से भागकर किसी सुंदर शांत एकांत की शरण लेने की कामना बलवती हो उठी। गगन-चुंबी पर्वत-शिखरों और द्रुतगामी जलधाराओं के प्रति आकर्षण का भाव अब उमड़ चला, जो कि कईयों के मस्तिष्क में पहले ही से घर किए हुए था। इन्हीं में लोग अब राजकीय यंत्रवत् जीवन के नीरस और भार-

स्वरूप वातावरण से छुटकारा पाने का प्रयत्न करने लगे। बौद्ध धर्म के ज़ेन (ध्यान) नामक संप्रदाय ने, जिसका प्रवेश चीन में छठी शताब्दी ईस्वी में एक भारतीय राजपुरुष के प्रयत्नों से हुआ था, चीनी-मस्तिष्क में अब गहरी जड़ जमाना शुरू किया। इसका एक कारण संभवतः यह भी था कि इस मत के विचारों में प्राचीन ताओ मत के सिद्धान्तों से बहुत घनिष्ठ समानता थी। इस नवीन मत में बाह्य दृश्य जगत् की अवहेलना कर अंतर्जगत् की ओर अभिमुख होने पर विशेष ज़ोर दिया जाता था। फलस्वरूप चित्रों में अब तड़कीले-भड़कीले, सुनहले और रंगीन वस्त्रों से सुसज्जित बुद्ध और बोधिसत्त्वों के बदले गहन ध्यान में निमग्न अर्हन्तों अथवा त्वरा के साथ रोशनाई द्वारा चित्रित ज़ेन-संतों की ही आकृतियाँ दिखाई पड़ने लगीं। इस नवीन प्रवृत्ति ने दक्षिणी सुङ्गों की कला को एक विशिष्ट काव्यमय भाव से अभिभूत कर दिया।

इस युग के सबसे प्रतिभावान् कलाकार ली टैङ् और उसके ही जितने मशहूर उसके दो शिष्य शिया कुएई तथा मा युआन हैं। यद्यपि इस शैली की चित्रकारी बहुत शीघ्र ही चीन में अपनी लोकप्रियता खो बैठी, फिर भी बाहरी दुनिया की निगाह में वही चीनी चित्रकला के सर्वोत्कृष्ट रूप की प्रतिनिधि मानी जाती है। एकीकरण की एक भावना और आवेग के भाव से युक्त इस शैली में हम सरलता और भव्यता का बड़ा ही सुन्दर समन्वय पाते हैं। पर्वत या उच्च स्थल-प्रदेशों के प्रति चीनी लोगों में सदैव ही श्रद्धा का एक भाव रहा है। वे उन्हें देवात्माओं के निवासस्थान के रूप में देखते रहे हैं और यद्यपि चीनी लोग मूलतः कृषिव्यवसायी हैं फिर भी उनकी लाक्षणिक दृश्य-चित्रण कला के मूल में जो प्रेरक शक्ति काम करती रही है वह उपजाऊ धरती के साथ परिश्रमशील मानव के संबंध में नहीं प्रत्युत् एक अधिक व्यापक

चिङ् युग के वाङ् वू नामक कलाकार का एक चित्र

विश्व-जनीन भाव में निहित है, जिसमें प्रबल झंझावात, धूमिल कुहासा, उन्नत शैलशृंग तथा उमड़ते हुए स्रोत-रूपी प्राकृतिक शक्तियों के साथ मानव आत्मा के निकट सौहार्द्र का भाव अंतर्हित है।

युआन या मंगोल युग के प्रादुर्भाव के साथ ही चीनी चित्रकला ने एक बार फिर अपना वेग गँवा दिया। अब घोड़ों का चित्रण ही प्रधान विषय बन गया, चूँकि मंगोल लोग मूलतः एक घुमक्कड़ जाति के लोग थे और ऋतु-परिवर्तन के अनुसार यहाँ से वहाँ जाने के लिए घोड़ों और ऊँटों पर ही निर्भर थे। इस युग का सबसे मशहूर अश्व-चित्रकार चाओ-मैङ्ग-फ़ू था, जो प्राकृतिक दृश्यों और पुष्पों के चित्रण में भी बड़ा दक्ष था। अन्य एक समकालीन विख्यात चित्रकार 'जेन जेनफ़ा' था। जिसकी बहुत-सी कलाकृतियाँ अब भी योरप और जापान के चित्र-संग्रहों में मौजूद हैं।

मिङ् युग की कला की एक विशेषता यह है कि उसमें शुरू से आख़िर तक उस धार्मिक प्रेरणा का क्रमिक विलोप होते हम देखते हैं जिसके लिए चीनी कला बौद्ध और ताओ धर्म के प्रति इतनी अधिक ऋणी रही है। अपने ही में लवलीन हो जाने के कारण अब चीन का बाहरी दुनिया से कोई प्रेरणाजनक संसर्ग नहीं रह गया था और फलस्वरूप उसकी कला अन्तर्जगत् के सौन्दर्य की अभि-व्यक्ति करने की अपेक्षा बाह्य पार्थिव वस्तुओं की ही सुन्दरता के चित्रण में उलझ गई। फिर भी इस युग में अनेक प्रसिद्ध चित्रकारों की नक्षत्रमंडली का उदय हुआ, जिसका अधिकतर श्रेय मिङ् राजवंश के सबसे प्रथम सम्राट् द्वारा 'चित्रकला परिषद्' की पुनर्स्थापना को था। इस युग के चित्रों के मुख्य विषय पक्षी, फूल और प्राकृतिक दृश्य थे और उनमें भड़कीले रंग, विशेषकर नीले और सुनहले रंगों की प्रधानता रहती थी जो इस युग की एक मुख्य विशेषता बन गई।

किंतु इस युग का प्रधान गौरव साधारण मिट्टी और चीनी मिट्टी के अति सुन्दर पात्रों का निर्माण था। मिङ् युग के चीनी के पात्र सारे संसार के सभ्य देशों में प्रसिद्ध हो गए और वे बहुत अधिक संख्या में ईरान, भारतवर्ष, टर्की, मिस्र और योरप तक भेजे गए। मिङ् युग के ये चीनी के पात्र मध्य और आधुनिक युग में उसी प्रकार चीन का अन्य देशों में प्रतिनिधित्व करते रहे जैसे कि उसके रेशमी वस्त्रों ने अति प्राचीन काल में विदेशों में उसके गौरव की धाक जमा रखी थी। सत्रहवीं और अठारहवीं शताब्दी में योरप में ये चीनी मिट्टी के पात्र इतने अधिक लोकप्रिय बन गए कि आधुनिक अंग्रेज़ी शब्दकोशों में 'पोर्सलेन' के लिए चाइना (China) शब्द का ही प्रयोग होने लगा है।

चिङ् (मंचू) राजवंश (१६४४-१६११) का युग पुरातन परम्परागत शैलियों के क्रमिक ह्रास का युग है, यद्यपि बुझती हुई चिनगारियों में कई उल्लेखनीय प्रतिभावान् कलाकारों के दर्शन भी होते हैं। इस युग में चित्रकला ढीली-ढाली, निम्नकोटि की, और सनक से भरी हो चली। इस युग के आरंभिक दिनों के शौक़ीन चित्रकारों में चूटा नामक एक कलाकार के पुष्पों और शिलाखण्डों आदि के रोशनाई से बनाए चित्रों की विशेष सराहना की गई है। दूसरा प्रसिद्ध नाम सत्रहवीं शताब्दी के युन शाउपिङ् का है जो चिङ् युग का सबसे प्रख्यात पुष्प-चित्रकार था।

इसी काल के लगभग चीन के राजदरबार में पाश्चात्य ईसाई मिशनरियों का प्रवेश हुआ, जैसा कि भारत में भी सम्राट् अकबर और जहाँगीर के युग में हुआ था। इसके फलस्वरूप पहलेपहल चीन की भूमि में यथार्थ-वादिता का बीज बोया गया। परंतु सौभाग्य से चीनी मस्तिष्क में गहरी जड़ जमाए हुए परम्परावाद की रीढ़ बहुत मज़बूत थी और उसकी शक्ति के आगे योरपीय चित्र चीनी कला पर कोई स्थायी प्रभाव नहीं डाल सके। इस अल्पकालिक युग की मिश्रित वर्णसंकर कला की उपज के दो दिलचस्प नमूने ज्यूसेप कास्टालिग्नौने नामक जेसुइट पादरी, जिसने लेङ् शिहनिङ् का चीनी उपनाम धारण कर चीनी शैली में सुंदर चित्रकारी की थी, तथा चिआओ पिङ् चेङ् नामक एक चीनी चित्रकार हैं, जिसने योरपीय दृष्टिबिंदु को अपनाकर उसकी शिक्षा लेङ्मेई आदि को दी।

महान् चीनी कलाकारों में से अंतिम शेनानपिन था, जो जापान में नागासाकी में जा बसा था। उसकी कला का जापान की कलासंबंधी प्रकृतिवादी लहर पर बड़ा प्राणदायक प्रभाव पड़ा था। इस प्रकृतिवादिता की लहर को छोड़कर चीन की आधुनिक चित्रकारी में नवीन जीवन के कोई चिह्न नहीं दिखाई देते।

अगले लेख में हम भास्कर्य और स्थापत्य के क्षेत्र में चीन की साधना की एक झलक पाठकों को दिखाने का प्रयत्न करेंगे और तदुपरान्त जापान की कला का दिग्दर्शन करेंगे, जिसका चीन की कला से अति घनिष्ठ संबंध है।

संस्कृत वाङ्मय—(१)

प्रवेशक

संस्कृत भाषा का साम्राज्य

संस्कृत वाङ्मय का इतिहास आर्य जाति का इतिहास है। जिस प्रकार आर्य जाति की शाखाएँ-प्रशाखाएँ भूमण्डल के विविध प्रदेशों में फैली हुई हैं, उसी प्रकार संस्कृत वाङ्मय की शाखाएँ-प्रशाखाएँ भी अनन्त अक्षय-वट की भाँति पृथ्वी के कोने-कोने में फैली हुई हैं। आर्य जाति का विस्तार पश्चिमोत्तर में आर्कटिक सागर के पश्चिमी किनारे से हिन्द-महासागर के तटवर्त्ती दक्षिण-पूर्व तक, फिर अटलांटिक के दोनों तटों पर है। आर्य भाषा का प्रसार आर्य जाति के विविध निवास-स्थानों में तो है ही, परन्तु वह उनसे बाहर अन्य अनार्य भाषाओं के अन्तर में भी पैठ चुका है। यथार्थतः तो यह कहना कि आर्य भाषाएँ बोलनेवाली सारी जातियाँ आर्य हैं एक कल्पित धारणा है, जिसकी असत्यता अब सिद्ध हो चुकी है और जिस दृष्टिकोण को अधिकतर अधिकारी विद्वानों ने छोड़ भी दिया है। वस्तुतः भाषा का प्रभुत्व सांस्कृतिक सम्बन्ध और व्यापारिक आदान-प्रदान से जमता है। उसी से प्रायः एक भाषा में दूसरी भाषा का शब्द-बाहुल्य होता है। परन्तु किसी अन्य भाषा के शब्दबाहुल्य से कोई भाषा उस अन्य की शाखा नहीं कही जा सकती। उत्तरी भारत में आज जो सैकड़ों बोलियाँ बोली जाती हैं वे किसी न किसी प्रकार से संस्कृत से ही प्रादुर्भूत हुई हैं। हाँ, संस्कृत से आज की स्थिति तक पहुँचने में कई मार्ग उनके सहायक रहे हैं, जिनका आगे उल्लेख किया जायगा। परन्तु इनके विपरीत दक्षिण भारत में तामिल, तेलुगु, मलयालम और कन्नड़ी कुछ ऐसी भाषाएँ भी हैं, जो संस्कृत से नहीं निकलीं, जिनका अपना स्वतंत्र साहित्य है और जो संस्कृत के संसर्ग के पूर्व से ही फूल-फल रही थीं। हाँ, इतना अवश्य सत्य है कि उनके साहित्य को संस्कृत साहित्य ने बहुत-कुछ भरा-पूरा है और उनमें संस्कृत भाषा के सैकड़ों शब्द कई रूप से जाने-अनजाने व्यवहृत होते हैं। इस रूप से संस्कृत भाषा का औपनिवेशिक साम्राज्य संसार के सुदूर खण्डों में अनार्य भाषाओं में फैला हुआ है।

वास्तव में संस्कृत भाषा का इतिहास आर्य जाति का इतिहास है। उसका प्रसार आर्य जाति का भौगोलिक प्रसार है, उसकी सांस्कृतिक प्रगति है। जिन जातियों को हम आज 'आर्य' कहते हैं वे कभी आर्य थीं कि नहीं अथवा जिन्हें हम 'आर्य' कहते हैं और जिन्हें स्वयं आर्यों ने अपनी प्रथम मानवी पुस्तक ऋग्वेद में 'आर्य' कहा है वे स्वयं बहुत पूर्व विशुद्ध आर्य थे या नहीं यह कहना कठिन है, विशेषकर इस कारण कि संसार की प्राचीन सारी जातियाँ क़बीलों की अवस्था में घुमक्कड़ थीं और घुमक्कड़ अवस्था में एक जाति का दूसरी से वैवाहिक अथवा जनन-सम्बन्ध प्रचुरता से स्थापित होता रहा है। इस अर्थ से तो रक्त-शुद्धि अथवा जाति-पावनता एक भ्रान्ति, मृगतृष्णा-मात्र ही सिद्ध होती है। फिर भी इसमें संदेह नहीं कि आर्य जाति ने अपनी जातीय पावनता बनाए रखने की असाधारण चेष्टा की है और किसी अंश तक बना भी रखी है। एक बात और। इतिहासकारों ने जाति-समुदायों का अध्ययन करते समय जो अनेकों जातियों की गणना और वर्गीकरण किया है उस पीत, कृष्ण, अरुण और श्वेत रूप वर्णाधार से परे एक सांस्कृतिक विभाजन भी किया है। इस विभाजन में आर्य और सेमिटिक (इसरायल, यहोवा आदि के वंशज, मिस्री (हिमिटिक), अस्सीरियन, बेबिलोनियन आदि) प्रमुख हैं। है तो यह केवल सांस्कृतिक और

जातीय वर्गीकरण और जातीय सम्बन्ध से यह बहुत प्रामाणिक भी नहीं माना जा सकता, क्योंकि इन दो जातियों में बहुत पूर्व प्रागैतिहासिक काल में वस्तुतः कितना अन्तर था यह नहीं कहा जा सकता, विशेषकर जब कि दोनों की शारीरिक विशेषताएँ लगभग समान थीं। वर्ण में भेद अवश्य था, परन्तु इसका ही क्या प्रमाण है कि सेमिटिक जातियाँ ही दजला और फ़रात के तटों पर सदा से बसी थीं, और पूर्वकाल में अन्यत्र से आकर न बसीं, अथवा उनका भी रंग आर्यों की ही भाँति श्वेत न था जो मध्य एशिया के जलवायु से गेहुआँ अथवा अधिकतर घना हो गया। हाँ, सांस्कृतिक भेद यथार्थ है, जो आसानी से माना जा सकता है और मान लेना पड़ेगा। आर्य और सेमिटिक जातियों की संस्कृति में बड़ा गहरा भेद रहा है, जो अब तक बहुत अंशों में बना हुआ है। इनमें एक की संस्कृति का प्राण उदार और दूसरे का आतंकमय रहा है। यह कहना तो अत्युक्ति होगी कि आर्यों ने अपने प्रसार और भौगोलिक विजयों में आतंक अथवा संघर्ष को स्थान न दिया या सेमिटिक जातियों ने सदा आतंक को ही अपनाया, परन्तु लाक्षणिक रूप में उनकी ये विशेषताएँ वस्तुतः सिद्ध हैं। एक बार घुमक्कड़ आर्य जाति ने जब किसी भूखण्ड को अपना गृह बनाया, फिर उसमें अपने निवासस्थान की नींव के साथ ही उसने झट अपनी संस्कृति की जड़ें भी डालीं और धीरे-धीरे अपनी मेधा की विभूतियों और कायिक विसर्जन से उसे दृढ़ की। फिर उनकी अन्य जातियों पर विजय, असि द्वारा नहीं, धर्म द्वारा हुई, जिसका विशेष व्यक्तीकरण बुद्ध और अशोक ने किया। अन्य विजित जातियों में उनके आतंक से कराह नहीं पैदा हुई वरन् ब्रह्मघोष का निनाद फैला। अर्जुन का दिग्विजय अवश्य असि का ताण्डव था, परन्तु आर्य संस्कृति का वैभव अर्जुन का गांडीवघोष नहीं, कृष्ण का गीतानाद है। आर्य संस्कृति ने जब आवश्यकतावश 'शस्त्र' को ग्रहण किया तब उसने उसके ऊपर 'शास्त्र' की प्रतिष्ठा की। इस प्रकार आर्य संस्कृति का प्रसार उदारतापूर्वक हुआ विचार-स्वातंत्र्य की जड़ बनाए हुए। इसी कारण संस्कृत भाषा ने जिन-जिन भाषाओं में प्रवेश किया वे दुर्बल न बनीं वरन् उसके सामीप्य से उनका उपवन फला-फूला। यही कारण है कि संसार की अनेक जातियाँ अनार्य होती हुई, इस आर्यभाषा संस्कृत की शब्दावली का व्यवहार करती हुई, भी नहीं जानतीं कि वे विजातीय बोली बोलती हैं। और न स्वयं संस्कृत भाषा ने ही अन्य भाषाओं से आनेवाली शब्दमाला को अग्राह्य किया। उसने उस पर और अपनी मुद्रा लगाकर उसे अपनी घोषित कर दी और आज आर्य भाषा का कट्टर पुजारी भी विजातीय शब्दों का प्रयोग करता हुआ पूर्ण रूप से संतुष्ट रहता है।

संस्कृत भाषा आर्यों की भाषा है—उसी प्रकार जैसे संस्कृत से पहले मातृसंस्कृत अथवा पूर्वप्राकृत आर्यों के पुरखों की थी। इसी पूर्वप्राकृत-संस्कृत से वे अनेक भाषाएँ निकलीं जिनकी आज आर्य अथवा 'इण्डो-ट्यूटोनिक' भाषाओं में गणना है। इसी मातृसंस्कृत का साम्राज्य भूमध्यसागर के तटवर्ती किसी युग के जगत् के मुकुटमणि ग्रीक और रोमन प्रदेशों पर फैला हुआ था और जिसकी सत्ता आज भी उनकी अनेक बोलियों में विद्यमान है। इस साम्राज्य की परिखा अटलांटिक महासागर ने एक ओर बनाई जिसके ऐंग्लो-सैक्सन, फ्रांसीसी, जर्मन (ट्यूटन अथवा द्वायत्शलंदीय), लिथुए-नियन आदि अन्तपाल हुए। लिथुएनियनों ने तो इस प्रकार इस भाषा का स्तवन किया कि आज भी कापाल्किन के शब्दों में 'लिथुएनिया का कृषक संस्कृत के ही पदों का व्यवहार करता है'। संस्कृत के यहाँ की भाषा से घने सम्बन्ध के कारण कुछ लोगों ने आर्यों का आदिम निवास लिथुएनिया को भी माना। फिर इसका सिक्का मध्य योरप के स्लाव आदि अनेक भाषाओं में चला और सोलहवीं शती में जब योरपीय जातियों ने अमेरिका में अपना निवास बनाया तो वहाँ भी इस भाषा-बोधि की कलमें जा लगीं। पर इनके बहुत पूर्व 'मयों' ने वहाँ आर्य संस्कृति की धरोहर रख छोड़ी थी। इधर एक बहुत बड़ा प्रांगण संस्कृत भाषा का ईरान देश में, जो आर्यों का कभी निवासस्थान था, खड़ा हो गया। यहाँ तक कि प्राचीन फ़ारसी, जिसमें पारसियों की धर्मपुस्तक 'ज़ेन्दावेस्ता' लिखी गई है, संस्कृत की निकटतम भगिनी है। कुछ अक्षरों की ध्वनियों को बदलकर पढ़ने से ऐसा जान पड़ता है मानो वेद पढ़े जा रहे हों। यह फ़ारसी बाद की प्राकृतों अथवा बोलियों से संस्कृत के कहीं निकट है। फिर संस्कृत का विशेष आधार सप्तसिन्धु का प्रदेश बना, जहाँ उसकी विशेष वृद्धि हुई और जहाँ वह देवभाषा बनी। यहीं से उसका प्रसार भारतवर्ष के प्रान्तों से होता हुआ आर्यों के अनेक उप-निवेशों—सिंहल, जावा, बालि, सुमात्रा, लवंगद्वीप, आदि—में आर्य संस्कृति के साथ-साथ हुआ। उसका प्रभाव फिर कोरिया, जापान, चीन, तिब्बत, पूर्वी तुर्किस्तान

आदि देशों के साहित्य पर पड़ा। इस लेखमाला में इसी भारतीय संस्कृति का इतिहास संकलित होगा जिसने विश्व को वेद-जैसी ज्ञान-निधि प्रदान की और उसके बाद के इतिहास का निर्माण किया।

संस्कृत भाषा और संस्कृत विद्या

जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, संस्कृत भाषा का इतिहास आर्य जाति का इतिहास है। जहाँ-जहाँ आर्य जाति की संस्कृति और वैभव फैले हैं वहाँ-वहाँ संस्कृत भाषा का विस्तार हुआ है। इसे उन्होंने आर्य-भाषा, देव-भाषा और भारती आदि की संज्ञा प्रदान की है। संस्कृत भाषा का आरम्भ कितना प्राचीन है यह कहना आज कठिन ही नहीं वरन् असम्भव है, क्योंकि उसका अधिकतर अर्थात् प्राग्वैदिक रूप बिल्कुल ही अनजाना है। जाने हुए रूप का अध्ययन और उसके उत्तरकालीन विकास का अनुशीलन सम्भव है। इस जाने हुए रूप का आरम्भ—उपलब्ध ज्ञान—ऋग्वेद संहिता से होता है और उसका अन्त अथर्ववेद संहिता के साथ हो जाता है। यह इस रूप का प्रथम युग है, जिसे हम संहिता-काल कहेंगे। दूसरा ब्राह्मण-उपनिषद्-काल है, जिसमें गद्य का प्रारम्भ और पद्य का पोषण हुआ है। ये दोनों काल मिलकर उस युग का निर्माण करते हैं, जिसे हम वैदिक युग कहेंगे। तीसरा युग सूत्रग्रन्थों का था। चौथे युग में रामायण और महाभारत-से वीरकाव्यों का प्रादुर्भाव हुआ। पाँचवाँ युग प्राक्कालिदास काव्य और नाटकों का था, छठा स्वयं कालिदास का, सातवाँ कालिदासोत्तर काव्यों, नाटकों आदि का और अन्तिम युग विविध टीकाओं और भाष्यों का था।

ऋग्वेद से पूर्व की संस्कृत भाषा का अथवा उसके साहित्य का ज्ञान हमें नहीं होता, क्योंकि उसके अध्ययन की सामग्री हमें उपलब्ध नहीं। परन्तु न सही साहित्य का, किन्तु भाषा का फिर भी हम कुछ-न-कुछ अटकल लगा सकते हैं। स्वयं ऋग्वेद ग्रीकों की देवी मिनर्वा की भाँति बिना शैशव-कैशोर आदि शरीर-गठन की आवश्यक अवस्थाओं के हमारे सामने आ उपस्थित होता है। उसे हम ठीक उसी रूप में स्वतः पूर्ण पाते हैं। लोगों ने उसके भाषा-विकास के अनुसार स्तरों को भी जानने की बात कही है। कुछ स्तरों का पता स्वयं ऋग्वेद के एकाध मंत्रों से ही चल जाता है। उदाहरणस्वरूप एक मंत्र में पूर्व, मध्यकालीन और वर्त्तमान ऋषियों की चर्चा की गई है। ऋग्वेद संहिता की भाषा पद्यमयी है। परन्तु इसके पद्यों के छन्द उत्तरकाल के अलंकारशास्त्र की पद्धति का अनुकरण नहीं करते, जो स्वाभाविक ही है। इससे यह बात प्रकट होती है कि छन्दों के उस रूप का अभी अधिकतर अभाव था जिसका दर्शन हमें बाद के अलंकारशास्त्र के ग्रन्थों में होता है। समसामयिक साहित्य उपलब्ध न होने के कारण इस सम्बन्ध में कुछ कहना तो कठिन है, परन्तु इतना अवश्य कहा जा सकता है कि यह भाषा साधारण बोलचाल की नहीं है, क्योंकि पद्यमयी भाषा साधारण बोलचाल की नहीं हुआ करती। फिर भी छन्दबद्ध जो भाषा है वही गद्य रूप में जनता की हो सकती है। इस छन्दरहित गद्य-भाषा के दो रूप हो सकते हैं—एक तो शुद्ध वह रूप जो पद्य से वर्जित ऋग्वेद की भाषा का हो सकता है जिसे तत्कालीन शिष्ट लोग बोलते रहे होंगे, और दूसरा वह जो ग्रामीण अथवा अशिक्षित जन की भाषा का रहा हो। जो भाषा शिष्ट लोगों की रही होगी वही पाणिनि के 'संस्कृत' का पूर्व रूप है, जिसमें संस्कार का समावेश तो हो चुका है परन्तु जिसके पूर्ण 'संस्कृत' होने में स्वयं पाणिनि को अभी बहुत-कुछ करना है। किन्तु वह भाषा जो जन-साधारण की रही होगी उसे हम पूर्व-काल की प्राकृत कह सकते हैं।

कुछ लोगों ने संदेह किया है कि संस्कृत, जिसे हम आज के रूप में जानते हैं, कभी वास्तव में बोली भी जाती थी या नहीं। एक महोदय ने तो सन्देह की मात्रा हद दर्जे तक पहुँचा दी है। उनकी राय में संस्कृत साहित्य तो निस्सन्देह, स्वयं संस्कृत भाषा भी, एक भारी जाल है जो स्वयं कभी स्थित न थी और "जिसे धूर्त्त ब्राह्मणों ने सिकन्दर के आक्रमणों के बाद ग्रीक भाषा के अनुरूप गढ़ डाला!*"

यह विचारधारा संस्कृत-भाषा के अनुशीलन में अनोखी है। यहाँ इसका विवेचन श्रेय नहीं। इसकी अप्रामाणिकता स्वतःसिद्ध है। बाक़ी, संस्कृत कभी बोली जानेवाली जीवित भाषा थी या नहीं इस पर विचार नीचे करेंगे। यहाँ इस बात पर विचार कर लेना अधिक आवश्यक है कि पहले प्राकृत का जन्म हुआ अथवा संस्कृत का। इस विषय

* "Dugald Stewart, the philosopher, wrote an essay in which he endeavoured to prove that not only Sanskrit Literature, but also the Sanskrit language, was a forgery made by the crafty Brahmans on the model of Greek after Alexander's conquest." A. A. Macdonell: *Sanskrit Literature*, p. 2.

पर भी विद्वानों का मतैक्य नहीं। कुछ तो प्राकृत को संस्कृत से प्रादुर्भूत मानते हैं और कुछ संस्कृत को प्राकृत से। संस्कृत से प्राकृत का प्रादुर्भाव युक्तिसंज्ञक नहीं जँचता क्योंकि स्वयं 'संस्कृत' पद में उसका विरोध है। 'संस्कृत' शब्द स्वयं अब संज्ञा होता हुआ भी एक प्रकार का विशेषण है और इसमें एक 'संस्कार की हुई' भाषा का भाव निहित है। फिर संस्कार किसका? स्वयं संस्कृत का? इसका कुछ अर्थ नहीं निकलता। अवश्य तब उस भाषा का संस्कार किया गया जो ग्रामीण और जन-साधारण की थी और जो खरादी जाने से निखरकर शिष्टों की संस्कारपूत संस्कृत भाषा बनी। स्वयं 'प्राकृत' शब्द में भी 'संस्कृत' पद की व्युत्पत्ति के विरोध में 'स्वाभाविक', 'प्राकृतिक', 'अपरिमार्जित', 'असंस्कृत' भाव सिद्ध हैं। इस हेतु यह मानना आवश्यक हो जाता है कि 'प्राकृत' पहले की है और 'संस्कृत' बाद की 'प्राकृत' की ही संस्कारयुक्त भाषा। बाद की प्राकृतें बिना संस्कृत के मध्य आधार के पुरातन प्राकृतों से निकलती रहीं, यद्यपि उनका स्वयं समय-समय पर संस्कृत होना और संस्कृत के अनेक शब्दों का फिर से अपभ्रंश अथवा भ्रष्ट होकर प्राकृत बन जाना निवार्य न था। परन्तु यह बात स्मरण रखने की है कि संस्कृत की बुनियाद भी प्राकृत की भाँति ही प्राचीनतम स्तरों में पाई जायगी, क्योंकि उस समय की कल्पना कष्टकर होगी जब 'शिष्टों' का अभाव हो अथवा वे प्राकृतों को विशेष रूप से न बोलते रहे हों। संस्कृत का प्रादुर्भाव किसी सनातन संस्कृत से मानना अयुक्तिसंगत नहीं, परन्तु फिर भी प्राकृत की प्राकृतिकता और भी पूर्व जा पहुँचेगी। संस्कृत का मूल वहाँ खो जायगा, जहाँ से पूर्व 'शिष्टों' की कल्पना न हो सकेगी। और यदि मानव-विकास का सिद्धान्त सही है तो अवश्य एक अवस्था रही होगी जब प्रकृति का सहचर आदि-मानव शिष्ट-वर्ग के अभाव में उनसे वर्ज्य केवल समान प्राकृत ही बोलता रहा हो। और यदि उस अवस्था की कल्पना करें जब भाषा का जनन हुआ तो निस्सन्देह बालक की भाँति उच्चारण का प्रयास करते हुए मानव का भाषा-सम्बन्धी कोलाहल प्राकृत के अधिक निकट रहा होगा और संस्कृत से अधिक दूर।

ऊपर जो कई स्थलों पर कहा गया है कि संस्कृत भाषा का इतिहास आर्य जाति का इतिहास है उसका एक विशेष अर्थ है। यह अर्थ और जातियों की भाषाओं के सम्बन्ध में अथवा भारतीय आर्यों से इतर स्वयं अन्य आर्यों की भाषाओं के सम्बन्ध में भी सार्थक नहीं। क्योंकि औरों के प्रतिकूल इस जाति की आदितम (संस्कृत)-भाषा के साथ उसके गहरे अध्यात्म (Philosophy) का भी सम्बन्ध है। बाद में प्रादुर्भूत अनुकूल अथवा प्रतिकूल सारे भारतीय धर्मों का मूल ऋग्वेद संहिता में छिपा है। बौद्ध और जैन तथा लोकायत (नास्तिक) धर्मों को छोड़ अन्य आस्तिक संप्रदाय तो सभी ऋग्वेद को ही अपनी आधार-शिला बनाते हैं और स्वयं बौद्ध और जैन धर्मों की आचार-नीतियाँ उसी संहिता के विधान के बहुत-कुछ अनुकूल हैं। सहस्रों वर्षों तक आर्य जाति की विचक्षण मेधा का एकमात्र कलेवर संस्कृत रही है। उस अद्भुत अध्यात्म का एकमात्र यान यही भाषा रही। इसी में उसने वे रत्न प्रसूत किए जिनकी मर्यादा की संसार ने सराहना की और जिनकी सीमाएँ अन्य जातियाँ अथक परिश्रम करके भी आज तक न छू सकीं। क्या आश्चर्य कि उन आर्यों ने इस सर्वतोमुखी भाषा को 'देववाणी', 'भारती' आदि उपाधियों से अलंकृत कर पुकारा?

संस्कृत भाषा, जैसी उसे हम आज पाते हैं, कभी बोली जाती थी या नहीं, इस पर जैसा पहले कहा जा चुका है, विद्वानों का मतभेद है। पाँचवी शती ई० पू० में होनेवाले वैयाकरण पाणिनि ने विशेषकर संस्कृत को वह रूप दिया जैसा उसे हम आज पाते हैं। पाणिनि के पूर्व के वैयाकरणों ने तो 'संस्कृत' शब्द का प्रयोग भी नहीं किया है। सर्वप्रथम इस शब्द का प्रयोग वाल्मीकीय रामायण में मिलता है। दण्डी ने छठी शती ई० में अपने काव्यादर्श में 'संस्कृत' का व्यवहार जनसाधारण की बोली प्राकृतों के विरोध में किया है। यास्क और दूसरे प्राचीन भाषाशास्त्रियों और वैयाकरणों ने वैदिक संस्कृत से इतर संस्कृत को 'भाषा' कहा है। उनके और वक्तव्यों से ज्ञात होता है कि इस संस्कृत को भाषा कहकर वे प्रचलित बोली जानेवाली भाषा की ओर संकेत करते हैं। पतञ्जलि ने 'लौकिक' संस्कृत की ओर संकेत किया है। स्वयं पाणिनि के अनेकों विधानों का कोई अर्थ नहीं हो सकता यदि वे जीवित बोली जाती हुई संस्कृत के सम्बन्ध में न कहे गए हों। उनकी कई उक्तियाँ प्रयत्न और उच्चारण आदि के सम्बन्ध में हैं, कुछ दूर से बुलाने, प्रणाम करने तथा प्रश्नोत्तर में प्रयुक्त होनेवाली स्वर की ध्वनियों के प्रति कही गई हैं। वास्तव में संस्कृत केवल साहित्यिक भाषा हो भी नहीं सकती थी, क्योंकि अति प्राचीन काल से ही बोली-सम्बन्धी बहुतेरी शाखाएँ और भेद हमें उपलब्ध हैं। यास्क और पाणिनि दोनों बोली की 'पूर्वी' और

'उत्तरी' विशेषताओं का उल्लेख करते हैं। कात्यायन भी बोली सम्बन्धी स्थानविशेष के परिवर्त्तनों की बात कहते हैं और स्वयं पतञ्जलि ने ऐसे शब्दों की गणना की है जिनका व्यवहार स्थान विशेष में होता था। मैक्डोनल साहब की राय में तो "द्वितीय शती ई० पू० में हिमालय और विन्ध्य पर्वतों के मध्यवर्ती समूचे आर्यावर्त्त प्रदेश में संस्कृत अवश्य बोली जाती थी।" ब्राह्मण तो इसे बोलते ही थे, परन्तु केवल वे ही नहीं उनसे इतर वर्णों में भी इसका प्रचार था। महाभाष्य का सूत (सारथि) वैयाकरण से शब्दों की व्युत्पत्ति पर कथोपकथन करता है! इस प्रकार बाद के नाटकों में भी संस्कृत और प्राकृतें साथ-साथ व्यवहृत होती हैं। संस्कृत पतञ्जलि के 'शिष्ट'—राजा, मंत्री, ब्राह्मण, आदि—बोलते हैं, और प्राकृतें निम्न पात्रों—सेवक, विदूषक, स्त्रियों—द्वारा व्यवहृत होती हैं। इससे यह भी स्पष्ट है कि ये नाटक तभी खेले जाते होंगे जब साधारण जनता कम-से-कम संस्कृत समझती थी—उसमें कही गई विशेषताओं को, श्लेषों और गूढ़ ग्रन्थियों को, वह समझती थी, वैसे ही जैसे नाटकों के निम्न पात्र स्वयं प्राकृतभाषी होते हुए भी संस्कृत में कही हुई वक्तृताओं का उत्तर और प्रत्युत्तर देते थे।

इस प्रकार यह तो सिद्ध हो जाता है कि संस्कृत किसी सीमा तक बोली जाती थी। पर किस सीमा तक? 'शिष्ट' बोलते थे। पर 'शिष्ट' कौन थे और कहाँ तक बोलते थे? यह बात याद रखने की है कि शिष्टता की सीमा अवश्य करके प्राकृतों की अवधि अथवा हदों को नहीं लाँघती। संस्कृत-शिष्ट व्यक्ति यदि वह प्राकृतों यानी बोलियों की प्रमुखतावाले प्रान्तों का रहनेवाला हुआ तो सम्भवतः वह भी अपने घर के भीतर प्राकृत ही बोलेगा। एक उदाहरण पर्याप्त होगा। आधुनिक काल में खड़ी बोली का केन्द्र मेरठ माना जाता है। परन्तु खड़ी बोली जिस चुस्ती के साथ मेरठ, दिल्ली अथवा लखनऊ में बोली जाती है क्या उसकी शतांश सफ़ाई भी और जगहों में प्राप्य है? और स्वयं मेरठ, दिल्ली और लखनऊ से मील भर दूर बसनेवाले भी क्या शुद्ध खड़ी बोली बोलते अथवा बोल सकते हैं? वे सदा एक अथवा दूसरी प्राकृतों का ही आश्रय लेते हैं। हाँ, जब 'शिष्ट' आपस में मिलते हैं तब अवश्य खड़ी बोली का व्यवहार करते हैं अथवा भिन्न प्रान्तों के रहनेवाले भी जब परस्पर मिलते हैं तब भी खड़ी बोली का सहारा लेते हैं। इसी प्रकार प्राचीन समय में संस्कृत ने खड़ी बोली का पूर्वस्थान लिया था। आपस में जब 'शिष्ट' मिलते थे, संस्कृत बोलते थे। जब साहित्यिक प्रसंग उपस्थित होते थे वे 'शिष्ट' संस्कृत का व्यवहार करते थे। राज-कार्य में भी बहुधा इसी का व्यवहार होता था यद्यपि पालि अथवा अन्य प्राकृतें राज-कार्य से अपवार्य न थीं। प्रमाण तो इस बात का भी है कि पालि कई अवसरों पर राजकीय कार्यों के लिए व्यवहृत हुई है। संस्कृत का स्थान राष्ट्रभाषा का था। उन साहित्यिक केन्द्रों में जहाँ का वातावरण पूर्ण 'शिष्टों' का था वहाँ भी सर्वथा व्यवहार संस्कृत का ही था। परन्तु यह बात भी बराबर ध्यान में रखने की है कि प्राकृतों का भण्डार भी साहित्यिक रूप में धीरे-धीरे भर रहा था। नाटकों में उनके पदों के उदाहरण भी मिलते हैं।

संस्कृत भाषा का संस्कृत विद्या से शरीर और आत्मा का-सा सम्बन्ध है। जैसा पहले लिखा जा चुका है, संस्कृत विद्या सर्वप्रथम अध्यात्म के रूप में संस्कृत भाषा में अवतीर्ण हुई। आर्यों और मानव-जाति की प्रथम पुस्तक ऋग्वेद संहिता है जो संस्कृत में है। इस प्रकार जो हमें संस्कृत भाषा का सर्वप्रथम रूप उपलब्ध है उसमें अध्यात्म और परमात्मचिन्तन संनिहित है। और तब से लेकर जब तक आर्य जाति पूर्णतया पंगु न हो गई तब तक वह बराबर उसी भाषा में अपने विचार लिखती गई। चार सहस्र वर्षों तक निरन्तर उस जाति ने अपनी विचक्षण बुद्धि का जादू इस भाषा में उतारा। इस लम्बी अवधि के बीच आर्यों में एक-से-एक उत्कट मेधावी हुए, एक-से-एक प्रकाण्ड मनीषी जन्मे, सबने अपनी प्रज्ञा की उर्वरता से संस्कृत को सजाया। अनीश्वरवादी जैनों, बौद्धों और लोकायतों ने भी इसे अपनी सरस्वती से सरस किया। जैनों के अधिकांश ग्रन्थ तो संस्कृत में हैं ही, बौद्धों में भी, जब प्राकृत-पालि की नवीनता नीरस हो चली, संस्कृत की कामना जगी। अश्वघोष ने प्रथम शती ई० में 'बुद्धचरित' और 'सौन्दरनन्द' देववाणी में ही गाए। यह संस्कृत का उस उत्कट बौद्ध भिक्षु के प्रति व्यंगपूर्ण प्रहसन था! फिर तो महायान के प्रसार में अधिक काल तक संस्कृत सहायक हुई। जब महायान से मंत्रयान और वज्रयान का प्रादुर्भाव हुआ और तन्त्रों के प्रभाव से इनकी विद्या गूढ़ हो चली, मंत्रयान और वज्रयान साहित्य भी संस्कृतभाषा में ही लिखे गए।

संहिताओं के बाद ब्राह्मण और ब्राह्मणों के बाद आरण्यक और उपनिषद् संस्कृत में पनपे और बढ़े। फिर सूत्र-ग्रन्थ और वेदाङ्ग आए। शिक्षा, कल्प, व्याकरण, गणित, ज्यामिति, ज्योतिष, आयुर्वेद, काव्य, नाटक, चम्पू,

व्यवहार आदि पर ग्रन्थ रचे गए। इस संस्कृत भाषा-रत्नाकर से मंत्र, छन्द, गाथा, अनुश्रुति, जनश्रुति, धर्म और आचार, गल्प और कहानियाँ, जीवनचरित, इतिहास-पुराण, राजनीति और अर्थशास्त्र जैसे रत्न प्रसूत हुए। फिर वाद्य, गान और नृत्य, नाट्य, इन्द्रजाल, अलंकार, काम और भूत-वनस्पति आदि अन्य वैज्ञानिक शास्त्रों की रचना हुई।

एक विशेष बात संस्कृत ग्रन्थन में यह रही है कि आर्य-मस्तिष्क ने अपने शास्त्रों की रचना प्रायः पद्यात्मक की है। अध्यात्म और आन्वीक्षिकी से लेकर आयुर्वेद, ज्योतिष और मानसार (वास्तु Architecture) तथा अन्य कलाओं तक के ग्रन्थ काव्य में रचे गए। व्याकरण और शब्द-कोष तक पद्य में बने! शब्द-कोष की कला तो अद्भुत क्षमता की सीमा तक पहुँच गई। इस क्रमिक साहित्यक्षेत्र में मनुष्य के जन्म (कुमारभृत्य) से लेकर मृत्यु-पर्यन्त जीवन में जिन-जिन विषयों की चर्चा वांछनीय थी उनका विवेचन तत्कालीन वैज्ञानिक कोण से पूर्णतया हुआ। पुस्तक-निर्माण का क्रम वेग से जारी रहा और आश्चर्य-जनक सुविधा के साथ सद्यःजात काव्य अथवा ग्रन्थ अपने अधिकारी आलोचकों को उस सुदूर काल में भी उपलब्ध होते थे जिनकी मुद्रा भवभूति-से प्रखर बुद्धिवाले नाटककार पर भी गहरी अंकित होती थी। तब आज की भाँति काग़ज़ न था। उत्तर भारत में भोजपत्र आदि पर और दक्षिण भारत में ताड़पत्र पर ग्रन्थ लिखते थे। उत्तर में स्याही का व्यवहार होता था, परन्तु दक्षिण में ताड़पत्र घोटकर उस पर शलाका से अक्षर बनाकर उनमें रंग भर लेते थे। फिर पत्रों को एकत्र कर उन्हें छेदकर सूत से नथकर जो ग्रन्थि देते थे उससे उनका 'ग्रन्थ' नाम सार्थक होता था। सहस्रों की संख्या में ग्रन्थ नक़ल करने-वाले लेखक अपने कार्य में व्यस्त रहते थे। परन्तु लेखन के सम्बन्ध में एक स्वतंत्र प्रकरण अनिवार्य है और हम उसका उल्लेख आगे करेंगे।

संस्कृत वर्णमाला और देवनागरी

संस्कृत की वर्णमाला एक अद्भुत सृष्टि है। इसकी अभिसृष्टि किसी भी आधुनिक वैज्ञानिक शोध से कम महत्व की नहीं। इस पूर्ण वर्णमाला का वैज्ञानिक रूप पहले-पहल महावैयाकरण पाणिनि की अष्टाध्यायी में मिलता है। यह संस्कृत भाषा की सारी ध्वनियों का प्रतिनिधि तो है ही साथ ही इनका अंकन एक अद्भुत वैज्ञानिक शैली में हुआ है। सर्वप्रथम इसमें लघु और गुरु स्वर आते हैं, फिर संयुक्त स्वर, फिर ध्वनि के अनुसार वर्गों में व्यञ्जन और संयुक्त व्यंजन। उदाहरणार्थ पाणिनि द्वारा सूत्रबद्ध वर्णमाला दी जा सकती है—"अइउण्। ऋऌक्। एओङ्। ऐऔच्। हयवरट्। लण्। ञमङणनम्। झभञ्। घढधष्। जबगडदश्। खफछठथचटतव्। कपय्। शषसर्। हल्।" इनका प्रयत्न-उच्चारण कितना वैज्ञानिक है, यह वर्गों के उच्चारण-विधान से और स्पष्ट हो जाएगा—"अकुहविसर्जनीयानां कण्ठः, इचुयशानांतालुः, ऋटुरषाणां मूर्धा, लृतुलसानां दन्ताः, उपुपध्मानीयानां ओष्ठौ, ञमङणनानां नासिका च।" इनमें वर्ग और कुछ अन्य अक्षरों के उच्चारण समान हैं सो तो है ही, साथ ही मुख के स्थान भी जहाँ से उनका उच्चारण होता है एक विशेष क्रम से प्रयुक्त हुए हैं। जैसे ध्वनि के मुख से बहिर्गत होने के जो द्वार हैं उनमें कण्ठ सर्वप्रथम है, फिर तालु, मूर्धा, दन्त और ओष्ठ क्रम से आते हैं और बाद में वे संकर वर्ण जो मुख-नासिका से उच्चरित होते हैं। यह आर्यों के लिए कुछ कम गौरव की बात नहीं कि उन्होंने संसार के उस प्रारम्भिक युग में भी एक ऐसी वैज्ञानिक वर्ण-माला का व्यवहार किया जो इस विज्ञान के युग में भी योरप को उपलब्ध नहीं और जिससे बेहतर वर्णमाला की कल्पना जगत् न कर सका। इस वर्णमाला की एक-एक ध्वनि एक-एक विशेष संकेत से सूचित होती है। मैक्डोनेल साहब के शब्दों में आज का विज्ञानगर्वित योरप सहस्रों वर्ष बाद भी एक नितान्त अवैज्ञानिक सेमिटिक वर्णमाला का उपयोग करता है जिसे ग्रीस ने लगभग तीन सहस्र वर्ष पूर्व ले लिया था, जो भाषा की प्रत्येक ध्वनि को प्रकटित नहीं करती और जिसमें स्वरों और व्यञ्जनों की एक अजीब खिचड़ी है।*

कुछ आश्चर्य नहीं कि आर्यों ने इस लिपि का नाम 'ब्राह्मी' अर्थात् 'ब्रह्मा की बनाई' हुई रखा हो। 'आह्निक-तत्त्व' तथा 'ज्योतिस्तत्त्व' में बृहस्पति कहते हैं—'पाण्मासिके तु समये भ्रान्तिः संजायते यतः। धात्राक्षराणि सृष्टानि पत्रारूढाण्यतः पुरा॥' 'नारदस्मृति' का भी वक्तव्य है—'नाकरिष्यद्यदि ब्रह्मा लिखितं चक्षुरुत्तमम्। तत्रेयमस्य लोकस्य नाभविष्यत् शुभागतिः॥' बाद का इसका 'देव-नागरी' नाम भी 'देवभाषा' अनुरूप सार्थक ही है। 'ब्राह्मी' देवनागरी का प्राचीन नाम है जिससे 'देवनागरी' की भाँति ही बंगला, गुजराती, मोड़ी आदि भारतवर्ष की अनेक भाषाएँ निकलीं। यह ब्राह्मी कब की है इस पर

* A. A. Macdonell, *Sanskrit Literature*, p. 17.

विद्वानों के अनेक मत हैं। ब्यूलर साहब तो इसे फ़ोनीशियन लिपि से ८०० ई० पू० में बनाई हुई समझते हैं। परन्तु वे किसी क़दर १००० ई० पू० भी इसका होना मानने को तत्पर हैं। इस विचार से ब्राह्मण-काल से भी पूर्व इसका अस्तित्व सिद्ध हो जाता है। बहुतेरे योरपीय विद्वान् तो इस काल को संहिता-काल भी मानते हैं। महामहोपाध्याय डाक्टर गौरीशंकर हीराचन्द ओझा ने अपनी विद्वत्तापूर्ण पुस्तक 'भारतीय प्राचीन लिपिमाला' में अनेक युक्तिपूर्ण प्रमाणों से सिद्ध कर दिया है कि भारतीय लेखन-कला उतनी ही प्राचीन है जितना संहिता-काल। सचमुच ही यह ध्यान देने की बात है कि यदि संहिताएँ लिखित रूप में उपलब्ध न थीं तो उनकी अनुक्रमणिकाएँ क्यों और कैसे लिखी गईं, प्रातिशाख्य कैसे बने? स्वयं संहिताओं का ही संकलन एक व्यक्ति द्वारा बिना लिखे संभव न था। और इन संहिताओं का विस्तार थोड़ा नहीं है। फिर यदि यह संकलन महाभारतकालीन कृष्णद्वैपायन व्यास का है तो अवश्य लिखने की प्रथा भारतवर्ष में कम-से-कम १४०० ई० पू० में विद्यमान थी, क्योंकि योरपीय और तत्प्रभावित भारतीय विद्वानों के अनुसार महाभारत का समय १४०० ई० पू० से पीछे नहीं ठहराया जा सकता। (वैसे उसका समय चिन्तामणि विनायक वैद्य और अन्य कई विद्वानों की गणना के अनुसार ३१०२ ई० पू० है, जो युधिष्ठिर और कलियुग संवत् का आदि संवत्सर है)। यहाँ पर कुछ प्राचीन आर्ष ग्रन्थों का हवाला भी ब्राह्मी लिपि के प्रयोग के संबंध में दे देना उचित होगा। पाँचवीं शती ईस्वी पूर्व के पाणिनि ने तो 'लिपि', 'लिबि', 'लिपिकर', 'यवनानी', 'ग्रन्थ', आदि का उल्लेख किया ही है उनसे पूर्व के यास्क ने भी अपने से पहले होनेवाले लगभग अठारह निरुक्तकारों और वैयाकरणों का हवाला दिया है, जिससे उन विद्वानों द्वारा लिखित ग्रन्थों और मतों की सातवीं शती ई० पू० में सिद्धि होती है।

और इनसे भी पूर्व के ब्राह्मण, आरण्यक और उपनिषद् ग्रन्थों से हमें जो प्रमाण उपलब्ध हैं उनसे ब्राह्मी लिपि का स्वतन्त्र आरम्भ तथा उसकी अतीव प्राचीनता सिद्ध हो जाती है। उनमें आए कुछ प्रमाणों का अवतरण यहाँ दे देना अनुचित न होगा। छांदोग्य और तैत्तिरीय उपनिषद् प्रायः साफ़ शब्दों में 'अक्षर' शब्द का प्रयोग और उसकी ओर इशारा करते हैं (छा० २-१०)। ऐतरेय ब्राह्मण प्रणव अक्षर 'ओं' को अकार, उकार और मकार के मिश्रण से बनना लिखता है ('त्रयो वर्णा अजायन्ताकार उकारो मकार इति'—३,२,६)। छान्दोग्य उपनिषद् ने 'ई', 'ऊ' और 'ए' स्वरों को ईकार, ऊकार और एकार शब्दों से सूचित किया है (अग्निरीकार : आदित्य ऊकारो निहवएकार :—१-१३)। ऐतरेय और शांखायन आरण्यकों में भी लिपि सम्बन्धी अनेक प्रमाण सुरक्षित हैं। उनमें 'ऊष्मन्', 'स्पर्श', 'स्वर', 'अंतस्थ', 'व्यंजन', 'घोष', 'णकार' और 'षकार' से होनेवाले नकार और सकार और उनके 'भेद' तथा 'संधि' का उल्लेख मिलता है (ऐ० आ० ३-२-१, २-२-४, ३-२-६, ३-१-५ आदि)। 'वचन' और 'लिंगों' के भेद भी ब्राह्मणों में पूर्णतया स्थिर हो गए दीखते हैं। शतपथ ब्राह्मण (१०-५-१-३) में लिंगों की गणना इस प्रकार है—वाक् ह एवैतत्सर्वं यत्स्त्री पुमान् नपुंसकं। इससे पूर्व के मंत्र-वाक्य में भी तीनों लिंगों का (त्रेधाविहिता...१०-५-१-२) उल्लेख है। उसी ग्रन्थ में एकवचन और बहुवचन का उल्लेख मिलता है (अथो-नेदेकवचनेन बहुवचनं व्यवायामेति—१३-५-१-१८)। तैत्तिरीय संहिता (६-४-७) में व्याकरण सम्बन्धी एक कथा वर्णित है जिसमें देवताओं की प्रार्थना पर इन्द्र का अनियमित अव्याकृत वाणी को नियमबद्ध और व्याकरण से युक्त करने की बात कही गई है। इस कथा का एक दूसरा रूप शतपथ ब्राह्मण (४-१-३-१२, १५-१६) में भी वर्णित है। व्याकरण का प्राचीन निर्देश लिखने की परिपाटी को सिद्ध करता है। व्याकरण का निर्माण साहित्य की उस दशा का द्योतक है जब उसका लेखन प्रचुर रूप से चल पड़ा हो। अलिखित वाणी या साहित्य के व्याकरण-निर्माण की कल्पना कष्टकारी है। उराँव, मुण्डा आदि प्राचीन अनार्य भारतीय जातियों की भाषा लिपिबद्ध न थी इसलिए उनका व्याकरण भी न था। अभी हाल में उनकी भाषा और गायन-साहित्य को लिख डालने का जो प्रयास हुआ है उसी के फलस्वरूप उनके व्याकरण-निर्माण का भी प्रयत्न अब हुआ है, जो प्रायः सफल सिद्ध होने लगा है। व्याकरण में कितने ही पारिभाषिक लक्षणों का रूप स्थिर करना पड़ता है जिसके लिए यह अनिवार्य है कि व्याकरण के समीप उसके साहित्य का लिखित रूप निश्चित रूप से विद्यमान हो। और गद्यमय ब्राह्मणों का निर्माण तो बिना लेखन-कला के प्रयोग के संभव ही नहीं था।

वेदों में लेखन-कला के प्रयोग का कुछ इशारा ऊपर किया जा चुका है। यहाँ उनसे सम्बन्ध रखनेवाले एकाध प्रमाणों का फिर भी उल्लेख कर देना श्रेयस्कर होगा।

वाजसनेयि संहिता (यजुर्वेद) में 'गणक' अर्थात् गिनने-वाले व्यक्ति (ग्रामण्यं गणकमभिक्रोशकं—३०-२०) का उल्लेख है और उसी में दस से लेकर शत, सहस्र, अयुत, नियुत, प्रयुत, अर्बुद, न्यर्बुद, समुद्र, मध्य, अन्त और परार्ध तक की संख्याओं का निर्देश है (१७-२)। यह याद रखने की बात है कि परार्ध की संख्या अंकों में १००००००००००००० यानी दस खरब है जिसका होना न लिखी जाती भाषा में संभव नहीं। इसी प्रकार की संख्याओं का हिसाब सामवेद के पंचविंश ब्राह्मण में भी मिलता है (१८-३)। शतपथ ब्राह्मण में ऋग्वेद के छंदाक्षरों की भी गणना प्रस्तुत है (१०-४-२, २२-२५)। इस प्रकार के अनेकों प्रमाण महामहोपाध्याय पं० गौरीशंकर हीराचन्द ओझा आदि विद्वानों ने प्रस्तुत किए हैं, जिनका उल्लेख पुनरुक्तिमात्र होगा।

ऊपर के प्रमाणों से भारतीय लेखन की अत्यन्त प्राचीनता सिद्ध हो जाती है। इस प्रकार 'ब्राह्मी' अपने पूर्व रूप में एक अद्भुत क्षमतावाली वर्णमाला का सांकेतिक स्वरूप बन आर्यों की पूतवाणी संस्कृत का अक्षराधार बनी और आज से लगभग चार हज़ार वर्ष पूर्व से ही उसके लिखने के साधन प्रस्तुतः करने लगी। तभी से उस अद्भुत तेज और क्षमतावाली आर्य जाति का भावोद्रेक द्रवित हो संस्कृत वाङ्मय की सरस्वती में बहने लगा। इस सरस्वती का प्रबल प्रवाह लगभग सोलहवीं शती ई० में मुस्लिम मरुस्थली में खो गया यद्यपि उसकी एकाध क्षीण धारा अब भी कहीं-कहीं झलक जाती है।

प्राकृत और अपभ्रंश

प्राचीनतम प्राकृत का रूप जो साहित्य में व्यवहृत हुआ है वह है बौद्धों की 'पालि' जिसमें बौद्ध धर्म की पुस्तकें और जैनों का प्राचीन साहित्य लिखे गए थे। अशोक के शिलालेखों की भाषा भी यही है। पश्चिम में सिन्धु की तलेटी में 'अपभ्रंश' पनपा और 'शौरसेनी' गंगा-जमुना द्वाब के मथुरा केन्द्र में फूली। 'शौरसेनी' की शाखाएँ 'गौर्जरी' (गुजराती), 'अवन्ती' (पश्चिमी राजपुतानी) और महाराष्ट्री (पूर्वी राजपुतानी) हुई। पूर्व में 'मागधी' मगध अथवा बिहार में और 'अर्धमागधी' काशी के चतुर्दिक फैलीं। 'अपभ्रंश' से सिंधी, पश्चिमी पञ्जाबी और काश्मीरी, 'शौरसेनी' से पूर्वी पञ्जाबी और हिन्दी (प्राचीन काल की अवन्ती) और गुजराती और 'मागधी' और 'अर्धमागधी' से मराठी, बंगाली, मैथिल और भोजपुरी आदि की सृष्टि हुई। हिन्दी का आरम्भ लगभग आठवीं शताब्दी ईस्वी में ही हो गया था।

इतिहास का क्रम

संस्कृत वाङ्मय का इतिहास बड़ा ।वस्तृत और गम्भीर है। उसका आरंभ हज़ारों वर्ष पूर्व हुआ और मध्य युग तक लगातार उसमें नए-नए रत्न जुटते गए। एक-दो लेखों में उसका परिचय देना संभव नहीं। अतएव इसका अध्ययन नीचे दिए निबन्ध-क्रम के अनुसार आगे चलकर 'विश्व-भारती' के कई अंकों में यथासंभव किया जायगाः—

काल	विषय
	प्रवेशक।
वैदिक काल ६०० ई० पू० तक	ऋग्वेद, सामवेद और यजुर्वेद। अथर्ववेद। ब्राह्मण, आरण्यक और उपनिषद्।
सूत्र-काल ई० पू० ६००-१०० ई० पू०	वेदांग। सूत्र। दर्शन।
इतिहास-काल ई० पू० ५००	रामायण। महाभारत।
पुराण-काल ४०० ई० तक	बौद्ध जातक आदि। धर्मशास्त्र। पुराण।
कुषाण, गुप्त काल ६०० ई० तक	पूर्व काव्य काल। कालिदास काल। कालिदासोत्तर काल।
	विज्ञान काल।
पूर्व मध्यकाल ई० ६००-६०० उत्तर मध्यकाल ई० ६००-१२००	अलंकार शास्त्र, कोष आदि। व्यवहार ग्रन्थ। चरित, इतिहास, आदि। टीका काल।
	उपसंहार।